आगम-निबंध-माला । पुस्तक ३

ॐ

वैदिक सभ्यता ।

[इसमें निम्न लिखित लेख हैं— (१) वैदिक सभ्यता, (२) वैदिक सभ्यता में धन का स्थान, (३) सप्तव्या-हृति, (४) अभ्युदय और निःश्रेयस, (५) घरमें बैठे बैठे ही जीर्ण होना अच्छा नहीं है, (६) ...ों के भिन्न कर्म, (७) रक्षकोंके राक्षस ।]

लेखक और प्रकाशक,

...पाद दामोदर सातवळेकर.
...याय-मंडल, औंध (जि॰ सातारा).

तृतीयवार १०००

... १९८०, शाक १८४५, सन १९२३.

मूल्य ॥।) बारह आने.

"वैदिक धर्म"

(१) **"वैदिक धर्म"** मासिक पुस्तक प्रतिमास वैदिक धर्मके तेजस्वी विचार प्रसिद्ध करता है।

(२) **"वैदिक धर्म"** मनुष्य मात्रके अभ्युदय और निःश्रेयसका सच्चा धर्म बताता है।

(३) **"वैदिक धर्म"** स्फूर्ति, उत्साह और आनंद बढाता है।

(४) **"वैदिक धर्म"** शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक उन्नतिके सच्चे मार्ग बताता है।

(५) **"वैदिक धर्म"** वैयक्तिक, सामुदायिक, जातीय, राष्ट्रीय तथा मानवी उत्कर्षके शुद्ध उपदेश प्रकाशित करता है।

(६) किसी प्रकारके कठिन समयमें आप **"वैदिकधर्म"** के विचार पढेंगे तो आपकी उदासीनता दूर होगी, और सच्चा नवजीवन प्राप्त होगा।

इसका वार्षिक मूल्य ३॥) साडे तीन रु. है। विदेशकेलिये ४॥) रु. है। आप शीघ्र ग्राहक बन जाइए और अपने मित्रोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणा कीजिये ॥

आगम-निबंध-माला । पुस्तक ३

ॐ

वैदिक सभ्यता ।

[इसमें निम्न लिखित लेख हैं— (१) वैदिक सभ्यता, (२) वैदिक सभ्यतामें धन का स्थान, (३) सप्तव्याहृति, (४) अभ्युदय और निःश्रेयस, (५) घरमें बैठे बैठे ही जीर्ण होना अच्छा नहीं है, (६) जनों के भिन्न कर्म, (७) रक्षकोंके राक्षस।]

लेखक और प्रकाशक,

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा).

तृतीयवार १०००

संवत् १९८०, शक १८४५, सन १९२३.

वैदिक सभ्यता का दर्शन ।

"वैदिक सभ्यता"के विषयमें नानाप्रकार के विभिन्न मत प्रचलित हैं । इस लिये वेदके प्रमाणोंसे ही वैदिक सभ्यताका दर्शन करने की अत्यंत आवश्यकता इस समय उत्पन्न हुई है । आशा है कि इस लेखमालासे वैदिक सभ्यता का अंशरूप दर्शन पाठकों को हो जायगा ।

औंध, जि० सातारा,
१ वैशाख सं. १९८०.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल.

प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, (स्वाध्याय मंडलके लिये)
(औंध, जि० सातारा.)

मुद्रक—रामचंद्र येसु शेडगे, 'निर्णयसागर' छापखाना,
२३, कोलभाट गल्ली, मुंबई.

329

वैदिक सभ्यता।

इस समय तक कई लोग समझ रहे हैं, कि वैदिक सभ्यता कोई वास्तवमें सभ्यता नहीं है, वेद के वाक्य बहुत उच्च विचारों अथवा उच्च कल्पनाओंका आविष्कार नहीं करते हैं, प्रत्युत ऐसा दर्शा रहे हैं, कि वेदकी सभ्यता जिस युग में थी, उस युग के लोग उच्च संस्कृति से संपन्न न थे, अथवा यों कहिये कि वे मानव-जातिके प्रथमावस्थाके अज्ञानमें मग्न थे, इस कारण वेदभी उनके गाढ अज्ञानकी साक्षी दे रहा है।

वेद के अन्दर मानवी सभ्यता है अथवा नहीं, होगी तो उसका स्थान कौनसा है, और उस सभ्यताका स्वरूप क्या है, यह देखनाही इस निबंध का कार्य है, किसी विरुद्ध मत वाले का खण्डन करना मेरा काम नहीं, मैं अपने प्रमाण विद्वानों के सन्मुख रखूंगा, जिस से वे स्वयं अपना अनुमान निकाल सकेंगे।

इस निबन्ध में वेदका काल उसकी उत्पत्ति तथा उसका कर्त्ता इत्यादि के विषय में मुझे कोई वक्तव्य नहीं। वेदका काल कोई हो, उसकी उत्पत्ति कैसी ही हुई हो, तथा उस का कर्ता कैसा भी हो, मैं यह नहीं चाहता, कि इस त्रयी के बोझ से पाठक मेरे वाक्य का अधिक प्रमाण मानें; प्रत्युत मैं यह चाहता हूं, कि, पाठक मेरे प्रमाणों को देखकर अपने मन में स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करें, और अपनी स्वतन्त्र सम्मति स्थिर करें॥

मैं मानता हूं, तथा मेरा विश्वास है कि वैदिक सभ्यता एक अत्यन्त उच्च सभ्यता है, परन्तु इस मेरे विश्वास से मैं अन्यों का मन कलुषित नहीं करना चाहता। मेरी सदैव यह इच्छा रहती है कि मनुष्य अपने

मत—स्वातन्त्र्य का अवलंबन करता हुवा सत्य सिद्धान्त ग्रहण करता रहे ॥

भाषाका प्रत्येक शब्द किसी एक विशिष्ट उद्देश से निष्पन्न होता है, विशिष्ट उद्देश के विना कोई शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त सर्व सम्मत है; इसी कारण मैं वेद के कई शब्द अपनी टीका टिप्पणी न करता हुआ, आप के आगे रखूंगा, जिस से आप जान सकेंगे कि वेद की सभ्यता किस प्रकार की थी ॥

भाषा का प्रत्येक शब्द विशिष्ट कल्पना का द्योतक हुआ करता है, विशेषतः वैदिक संस्कृत का प्रत्येक शब्द विशेष इतिहास से पूर्ण रहता है, इस लिये इस निबन्ध में मैंने केवल शब्दों के ही प्रमाण देने हैं ॥

जो लोक वेदों को जंगली लोकों के वाक्य समझते हैं, उन के मत से वेदों में "ग्राम नगर पत्तन" आदिकों की व्यवस्था नहीं होनी चाहिये, परन्तु हम (ऋ. १।४४।१०) वेद में "ग्राम" (Village) शब्द देखते हैं, जिस से विदित होता है कि ग्राम बनाकर निवास करनेकी कल्पना वेदों में है ॥

ग्रामों से "नगर" बडे होते हैं, ग्रामों की अपेक्षा नगरों में लोक-संख्या भी बहुत हुआ करती है, नगर मनुष्य समाज की सभ्यता के दर्शक समझे जाते हैं, जनपद में ग्राम बहुत होते हैं, परन्तु "नगर" बहुत थोडे हुआ करते हैं, नगर व्यवस्था लोगों की विशिष्ट सभ्यता बतलाती है, (तै. आ. १।११।१८) में "नगर" (town) शब्द आया है और वह बता रहा है, कि वहां नगर व्यवस्था की कल्पना है ॥

नगरोंसे "पुर" (city) का होना सभ्यता का विशेष अंग व्यक्त करता है, बडे नगर को "पुरी" इस लिये कहते हैं कि वह नगरी बडी होने के कारण सर्व प्रकारकी राष्ट्रीय सभ्यता से पूर्ण होती है, और इस प्रकार जो पूर्ण हुआ करती है, वही "पुरी" नाम के लिये योग्य होती है, वेदों में "पुरी" की कल्पना स्पष्टता से है, इस लिये मैं कह सकता हूं, कि ग्राम–नगर–पुरी की कल्पनाओं का वेदों में होना वैदिक सभ्यता को जांगलीय सभ्यता के कलंक से दूर करता है ॥

वेदमें केवल पुरी की कल्पना ही नहीं है, प्रत्युत "दुर्गपरिवेष्टित

नवद्वारा पुरी"(Fortified city with nine gates) का वर्णन वेदमें आया है, अर्थात् ग्राम नगर पुरियों के संरक्षणार्थ उनके चारों ओर दुर्ग तथा दुर्गद्वार रखने की कल्पना उक्त शब्दों से प्रतीत होती है; नगरों के चारों ओर दुर्ग की दीवार खडी करनी और उस का उपयोग शत्रुनिवारणार्थ करना यह काम जंगली लोकों की कल्पना में नहीं आ सकता है; यह कार्य सभ्य लोकों का ही हो सकता है ॥ (अथर्व. १०।२।३१)

ग्राम, नगर, पुरीयों के समूह का नाम जनपद अथवा "राष्ट्र" है, जन-पद वाचक राष्ट्र शब्द कई स्थान पर वेदों में आया है; अर्थात् "राष्ट्र" की भावना भी वेद में स्वाभाविक प्रतीत होती है, अथर्व वेद में एक स्थान परः–

अभि राष्ट्रेण वर्धताम् ॥ अथर्व. ६।७८।२

"राष्ट्र के साथ अपनी उन्नति करो" ऐसा उपदेश आया है, अर्थात् राष्ट्रहित का विघात मनुष्यको स्वार्थवश होकर नहीं करना चाहिये, यह आशय उक्त मंत्र का है। कितनी उच्च राष्ट्रीय भावना उक्त मन्त्र द्वारा बताई है। ऐसी उच्च भावना जिस वेद में स्पष्ट है, उस को जंगली लोगों के गीत किस प्रकार कहा जा सकता है? ग्राम, नगर, पुरी, और राष्ट्र इन शब्दों से वैदिक आदेश के सामुदायिक जीवन की भली प्रकार कल्पना हो सकती है, अब व्यक्तिगत सभ्यता के दर्शक जो शब्द वेदमें आये हैं, उन का निरीक्षण करना है, देखियेः—

जंगली लोग गुहा में रहते हैं, अथवा झोंपडियों में रहते होंगे इस लिये उन के काव्यों में झोंपडियों का वर्णन आसकता है, परन्तु वेदमें झोंपडीके लिये कोई शब्द प्रतीत नहीं हुआ, परन्तु बडे बडे आलिशान मकानों के लिये बहुत शब्द आये हैं "गृह–वेश्म–शाला–प्रासाद–हर्म्य–अट्ट–सौधम्" इत्यादि शब्द छोटे तथा विशाल गृहोंके लिये वेदों में आते हैं, मनुष्य के रहने की चार दीवारों के अन्दर जो जगह होती है वह "गृह" होता है, साधारण गरीब लोगों के ऐसे गृह हुआ करते हैं; ऐसे गृह प्रायः ग्रामों में होते हैं ॥

"वेश्म" शब्द थोडेसे बडे गृहोंके लिये आता है। ग्रामों में जो थो-

ङासा धनिक होता है, उसका गृह वेश्मसंज्ञक होता है, साधारण गृहसे वेश्म बडा होता है ॥

"शाला" शब्द गृहवाची होता हुआ भी सार्वजनिक गृह का बोधक हुआ करता है, सम्पूर्ण नागरिकों के हित के लिये जो सार्वजनिक गृह होते हैं वे "शाला" शब्द से पुकारे जाते हैं ॥

"प्रासाद, हर्म्य, अट्ट, सौध" ये चार शब्द प्रथम दृश्य में साधारण प्रतीत होते हैं, परन्तु वे शब्द साधारण घरों के बोधक नहीं हैं, प्रासाद तथा हर्म्य ये दो नाम उन मकानों के हैं, कि जिन में साधारणतया दो अथवा अधिक मंजिलें होती हैं, ये दो प्रकार के गृह ग्रामों में नहीं हुआ करते हैं, नगरों में अथवा पुरीयों में सर्व साधारण यही गृह होते हैं ॥

"हर्म्य तथा सौध" ये शब्द अनेक मंजिल वाले बडे सुन्दर विशाल मंदिरों के लिये होते हैं, हर्म्य तथा सौध नगरोंमें क्या परन्तु पुरियोंमें भी बहुत ही थोड़े होते हैं, राजा, सरदार, बड़े साहुकार इत्यादिकों के गृह इस नाम के होते हैं, इस प्रकार के गृह विपुल सम्पत्ति के निदर्शक होते हैं, वेद में उक्त शब्द आये हैं, इन के देखने से वैदिक सभ्यता कोई साधारण सभ्यता नहीं प्रतीत होती है ॥

इन शब्दों के साथ निम्न लिखित शब्द और देखिये:—

"अगार, अग्निशाला, यज्ञशाला" इत्यादि शब्द अग्न्यगार के वाचक हैं, अतिथि (मेहमान) रहने के लिये जो गृह होता था, वह 'आवसथ (Guest house), नाम से वेद में आया है। गय, गर्ह, दुरोण, दुर्योन, निवेशन, पस्त्य; इत्यादि वैदिक शब्द उन मकानों के हैं, कि जो एक दूसरे से पृथक् बनाये जाते हैं, खास स्त्रियों के लिये जो स्थान होता है, उसको "पत्नीशाला" वेद कहता है, गृहों के अन्दर सब के लिये बैठनेका कमरा होता है उस को वेद "प्राचीन वंश" (Drawing room or hall) बैठक कहते हैं, मकानों के ऊपर जो नकशीका खोदकाम, जालीका अथवा अन्य प्रकारका नकशीका बेलपत्ती का काम किया जाता है, उस को वेद में 'अक्षु' (Ornamental Design) शब्द आया है, लकडीका (Frame work) बनाते हैं,

उस को 'आता' ऐसा वैदिक शब्द है, गृहोंके छोटे दरवाजे होते हैं, उन को "दुर्" तथा बडे दरवाजों को 'द्वार' शब्द वेद में आये हैं। द्वारों के पास जो रक्षक हुआ करते हैं, उन को 'द्वारप' वेद में कहा है, कमरों के अन्दर बैठने के लिये कुर्सियां चाहिये; उन का वर्णन 'आसन्दी' नाम से वेद कह रहा है, 'प्रोष्ठ' (Bench) शब्द बेंच के लिये, "पीठ" शब्द (Stool) चौकी के लिये आया है, "वह्य" तथा "शयन" शब्द (couch) कोच के लिये हैं, कुर्सी तथा कोचका जो बैठने का भाग रहता है, उसको 'आसाद्' कहते हैं। उस के ऊपर जो गद्दी होती है उसको 'आस्तरण' तथा पीठ की गद्दीका नाम 'उपबर्हण' वेद में आया है।

वेद ने रहनेके लिये आप को अच्छे बड़े मकान तथा उन में बडे हाल और बडे कमरों में कुशन चेअर्स, तथा कोच, बेंच वगैरे सामान दिया है, सोने के लिये मामूली चारपाई नहीं है। परंतु बडा कीमती 'पर्यंक' पलंग है, उस के ऊपर "तल्प" नामक बडी रूई की गद्दी है तथा सिरोनेके लिये "उपबर्हण" सिरोना (pillow) है, गर्मी के दिनों में गृहस्थियोंके लिये "धवित्र" हाथ के पंखे तथा "परिपवन" खींचने-वाले पंखे सुख देने के लिये हैं, सर्दीके दिनोंमें सर्दीका निवारण करने के लिये कमरों के अंदर "आघ्रि" (Fire place) अग्नि रखने का स्थान है, इतनी संपूर्ण व्यवस्था करनेके पश्चात् भी आप कहते हैं, कि वेद जंगलि लोगों के गीत हैं, यदि हालोंमें कोचके ऊपर बैठनेवाले लोग जंगली हैं, तो इस समय के सब अग्रेसर राष्ट्र जंगली ही होंगे। अस्तु व्यक्तियोंके रहनेके लिये जो मकान चाहिये वह वैदिक सभ्यता इस प्रकारके दे रही है, कि जिनमें रहने से कोई आधुनिक श्रीमान पीछे नहीं हटेगा। ये शब्द बता रहे हैं कि, वैदिक आदेश कोई साधारण गृहव्यवस्थाको नहीं बता रहा है, परंतु उत्तम उत्तम मंदिरों तथा प्रासादों का दृश्य बता रहा है, जिस सभ्यता से बडे बडे सजेहुवे "प्रासाद" (palace) खडे हो सकते हैं, उस सभ्यताको जंगली कौन कह सकता है? और वह जंगली किस प्रकार हो सकती है!

शहरों तथा गृहोंके नाम देखने से वैदिक सभ्यता का चित्र मनोरम

दीखने लगा है, अब इस के अंदर जाकर हम और वस्तुओंकी ओर देखते हैं, शहरोंकी तथा गृहोंकी रचना तो उक्त शब्दों से विदित होगई, अब शहरों की आंतरिक व्यवस्था देखनी हैं, वेद में "रथ्या" शब्द आता है, जो रथ चलाने योग्य प्रशस्त मार्गका वाचक है, जिस के ऊपर से उत्तमता पूर्वक रथादि वाहन चल सकता हो, वह "रथ्या" संज्ञक मार्ग है, एक पांवका रास्ता होता है और दूसरा रथका मार्ग होता है, पांव रास्ता जो होता है वह चौडाई में कम होता है, तथा रथमार्ग चौडाई में अधिक होता है। गाडी चलनेवाले मार्ग भी एक सभ्यता का अंग समझा जाता है, ये मार्ग तीन प्रकार के होते हैं, (१) एक साधारण भूमिपर से चलनेवाला, (२) दूसरा भूमि के अंदर से और, (३) तीसरा पानीके उपर से। इन तीनों मार्गों का उल्लेख वेदों में आया है, "रथ्या" शब्द साधारण जमीनके ऊपरके मार्गका बोधक है, "अंतःपंथा" शब्द भूमिगत मार्गका बोधक तथा "सेतवः" शब्द पानी के ऊपर के मार्ग का बोधक होता है, ये तीनों मार्गवाची शब्द वैदिक सभ्यताको उच्च अवस्थाके प्रति पहुंचानेका यत्न कर रहे हैं।

नगरों के अंदर गाडी चलनेका मार्ग जहां होता है, प्रायः उस के साथ क्रयविक्रय के पदार्थ बेचने की दुकानें होतीं हैं, जिस को बाज़ार बोलते हैं, इसी का वर्णन वेद में "वीथी" शब्दसे किया है, अर्थात् वेद में बाजार का उल्लेख है। इतने शब्द देखने के पश्चात् आप सोच सकते हैं, कि बडे बडे नगर बसे हैं, बडे नगरों के अंदर बड़े बडे बाजार हैं; तथा चौडे मार्ग हैं; नदियों पर चौडे पुल बने हैं; तथा उन पर से रथ चल रहे हैं, मार्गोंके दोनों ओर बडे बडे मकान हैं; क्या आप मान सकते हैं; कि ऐसे शहर जंगली लोगों के हो सकते हैं?

पूर्व कहा हुवा "अंतः पन्था" अथवा भूविवरमार्ग खोदने के विना नहीं बन सकता है; वेदमें "खनन, खनित्र" शब्द आते हैं, वे बता रहे हैं कि खोदनेके साधन वैदिक शब्दों में पाये जाते हैं; इस बात की पुष्टि वेद में आये हुवे "कूप, गर्त" इत्यादि शब्द भली प्रकार कर सकते हैं; क्यों कि "कूप" अथवा "गर्त" खोदने के सिवाय नहीं बनता है;

खोदनेके हथियार लोहेके होते हैं। "कूप" शब्द से ही लोहेके हथियारोंकी आवश्यकता और उनके बनाने की विद्या बोधित होती है।

पूर्वोक्त "रथ्या" शब्द से रथका बोध होता है। रथ तैय्यार करने का हो तो तर्खाण तथा लोहार के कार्यों की आवश्यकता है, वेद में "रथकार" शब्द आया है, यह गाडियां बनाने वाले लोगों का स्पष्ट रीति से बोध कर रहा है, तथा—

"तक्षा, सुशिल्प, ऋभु, कारु, कारी, क्षत्ता"

इत्यादि वैदिक शब्द अच्छे कारीगर तर्खाणोंके वाचक हैं। 'तक्षा' तथा 'क्षत्ता' ये दो शब्द साधारण तर्खाणोंके बोधक हैं; 'कारु, कारी' ये विशेष कुशल कारीगरोंके वाचक हैं; 'सुशिल्प' तथा "ऋभु" ये सर्वोत्तम कुशल तर्खाणोंके वाचक हैं; "सुशिल्प" शब्द सर्वोत्तम बुद्धिमान् तथा अत्यन्त कुशल शिल्पीका बोधक है। जहां इस प्रकार के कारीगर हों वहां पूर्वोक्त उत्तम रथ बनने, अथवा "हर्म्य, प्रासाद, तथा अट्टहास" नामक बड़े विशाल मकान बनना कोई अशक्य नहीं। तर्खाण लकडीका कार्य करनेवाले कारीगर लोग होते हैं, कई लोग मोटा काम करने वाले होते हैं, तथा कई बारीक काम करने वाले होते हैं, वेद में "अनु-क्षत्ता" शब्द आया है, जो लकडी पर बारीक कला कौशल्य का काम करने वालेका बोधक होता है, "कारी" शब्द (Mechanic) यंत्र, कला इत्यादि सम्बंधी कार्य करनेवालेका बोधक है। "अभिक्षत्ता" शब्द सब प्रकारके काष्ठ कर्म में प्रवीण रहनेवालेका बोधक होता है। अस्तु, इस प्रकार वेदों में काष्ठ कर्म करनेवाले तर्खाणोंके वाचक कई शब्द आये हैं, जो बताते हैं, कि वेदों में उत्तम काष्ठ शिल्पियों की कल्पना विद्यमान है। अब लोह–शिल्पी, लुहारोंके विषय में देखिये।

"कर्मार, अयस्ताप" [Black Smith] ये दो शब्द लुहारोंके वाचक हैं। इन शब्दोंसे लुहारोंके कर्मों का उपदेश वेद में है, ऐसा सिद्ध होता है।

जब लुहार तथा तर्खाण अच्छे हों तब उत्तम रथ बननेमें कोई कठिनता

होने की संभावना नहीं होती, वेद में इसी कारण उत्तमोत्तम रथों के नाम उपलब्ध होते हैं । देखिये

"रथ, सुरथ" ये शब्द अच्छी गाड़ियोंके वाचक हैं, "रथतर रथतम" ये दो शब्द उससे उत्तम गाड़ियोंके अथवा बडी विशाल गाड़ियोंके बोधक हैं । जिनके पास ऐसी विशाल गाडियां होतीं हैं, उनके नाम वेद में "रथितर रथितम" ऐसे आए हैं, जिससे विदित होता है, कि बडी बडी गाडियां रखकर सृष्टि का उपभोग लेना भी वेदानुकूल है । वैदिक शब्द देखनेसे रथों में कई जातियां प्रतीत होतीं हैं, जिसमें बैठने से अत्यन्त आल्हाद हो, वह "चन्द्ररथ" नामसे वेद में प्रसिद्ध है । जो देखने में अद्भुत तथा सुंदर दिखाई देता है, उसका नाम "चित्र-रथ" वेद में आया है । जिस के चक्र अत्यन्त उत्तम हैं वह "सुचक्र रथ" नामसे विख्यात है, रथ के चक्र भी विविध प्रकार के बनानेका उल्लेख वेद में है । यद्यपि ये शब्द ज्योतिष प्रकरण में काल विभाग में दिये हैं तथापि उपमा चक्रविषयक होने के कारण वे शब्द चक्र की बनावट का उपदेश देनें में समर्थ हैं । जिसमें पांच आरे होते हैं उनको "पंचार चक्र" कहते हैं । जिनमें छः आरे होते हैं उनका नाम "षडरं चक्रं" तथा जिनमें बारह आरे होंगे उनको "द्वादशार चक्र" कहते हैं । इससे अधिक अथवा न्यून भी आरे एक एक चक्रके हो सकते हैं, परन्तु उसका उल्लेख वेद में कहीं मेरी दृष्टि में गोचर नहीं हुवा ।

रथ के लिये कितने चक्र होने चाहिये इस विषय में कई शब्द वेदमें आये हैं जिस रथको दो चक्र होते हैं, वह "द्विचक्र रथ" होता है, साधारणतया द्विचक्र रथ ही बहुत होते हैं; कई रथों में पीछे दो तथा आगे एक ऐसे तीन चक्र होते हैं, उनको वेद में "त्रिचक्र रथ" कहा है । जो रथ बहुत लंबे होते हैं, उनको बहुत चक्र लगाने पडते हैं । इनके विषय में वेद में "सप्तचक्र रथ" नाम आया है । इस नाम से प्रतीत होता है, कि एक ही रथ के लिये सात तक चक्र लगाये जा सकते हैं । सप्त चक्रों का रथ बहुत ही बड़ा हो सकता है । अब रही कल्पना एक चक्रके रथकी । यंत्रकलाविशारद जानते हैं कि एकचक्र रथ बनानेका

कार्य अत्यन्त यंत्रकला प्राविण्यका द्योतक है । साधारण यंत्रकला के ज्ञान से एक चक्री रथ बन ही नहीं सकता । वेद में "एकचक्रो रथः" का उल्लेख कई स्थानो में आया है जिससे प्रतीत होता है, कि एक चक्री (Unicycle, Monowheel, Monocycle) रथकी कल्पना वेदमें है, जहां यंत्रकला के अत्यंत प्रावीण्य की कल्पना वेद में दीखती है, वहां वेदमंत्र अज्ञानी जंगली लोगों के गपोड़े किस प्रकार बन सकते हैं इस का विचार हर एक आर्य को करना चाहिये ॥

साधारण गाड़ियों में तो मामूली आदमी बैठ सकते हैं, विशेष पैसे वालों के पास वैसी अच्छीं गाड़ियां होतीं हैं, बहुत धनाढ्य लोक अपनी गाड़ियों पर सोने चांदी की नकशी करते हैं, जिन रथोंपर सुवर्ण की नकशी होती है, उनको वेद में "हिरण्य रथ" कहा है, जो रथ बिजलीसे चलाये जाते हैं, उन को वेदमें "विद्युद्रथ" कहा है, जो घोड़ोंसे चलाये जाते हैं, वे "अश्वरथ" हुआ करते हैं, रथ के साथ कोई एक घोड़ा जोड़ता है, कोई दो, कोई तीन, कोई चार ऐसे अपनी अपनी शक्ति के अनुसार जोड़ते रहते हैं, वेद में "सप्ताश्व" शब्द आया है। जो बता रहा है कि रथ के साथ सात घोड़े तक जोतने का उल्लेख वेदमें है, सात चक्रवाले बडे रथको यदि सात घोडे जोते जांय तो बडा लंबा रथ हो जाता है, शायद ऐसा रथ इस काल में कहीं भी नहीं होगा। अस्तु इस प्रकार रथों की विविध कल्पनायें वेदमें स्पष्ट शब्दों से विदित होतीं हैं, अब लोहारों के विषय में देखना है, "कर्मार" तथा "अयस्ताप" शब्द पहिले लिखे गये हैं, इन शब्दों से लोहारोंका वर्णन होता है, लोहेके लिये "अयः" शब्द वेदमें अनेक वार आया है, उस लोहे को तपा कर नाना प्रकार के पदार्थ बनानेवाला जो होता है, उस को वेदमें 'अयस्ताप' कहा है, लोहेसे क्या क्या पदार्थ बन सकते हैं इस का वर्णन इस छोटेसे निबंध में होना बडा कठिन कार्य है, तथापि कुछ अल्प पदार्थों के नाम नीचे लिखे हैं—

वेद में "अयःपात्र" शब्द आया है, इस शब्द से प्रतीत होता है, कि लोहेके बर्तन बनानेकी विद्या वेदानुकूल है। यह तो बर्तनोंकी बात

होगई; अब शस्त्रोंके विषयमें देखिये । शस्त्रास्त्रोंके बनानेके लिये लोहा तथा फौलाद काम में आता है । विविध शस्त्रोंके लिये भिन्न भिन्न प्रकार का फौलाद चाहिये । "परशु" नामक हथियार प्रसिद्ध है उस का बनाना भी विना फौलादके नहीं हो सकता; "हेति खड्ग" वज्र" ये शस्त्र अत्यन्त उत्तम फौलाद के विना बन नहीं सकते । वेद में 'द्विधारा' नामक एक शस्त्र आया है, इस शस्त्र को दोनों ओर से अतितीक्ष्ण धारा होती है। यह शस्त्र छुरे के समान होता है परन्तु उसकी दोनों ओर धारा बडी तीक्ष्ण होती है । वेद में 'सूची' तथा 'वेसी' शब्द हैं । जो कपड़े सीने की सुइयों के बोधक हैं । सुइयां बनानेके लिये अत्यन्त उत्तम फौलाद की बडी आवश्यकता होती है, सुइयां बनानेके लिये लोहार अत्यन्त प्रवीण चाहिये । यह कार्य साधारणोंका नहीं है । इससे भी क्षुर (उस्तरा) बनानेका कार्य बडा भारी कठिन है । वेदमें क्षुर शब्द कई वार आया है एक स्थान पर तो वेदमें निम्न मंत्र दिया है ।

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ॥
शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥

अ. ८।२।१७

"उस्तरे से केश श्मश्रुका वपन करनेसे मुख उत्तम दीखता है," यह इस मंत्र का तात्पर्य है, हजामत करनेसे मुँह सुंदर बनता है, ऐसा वेद कहता है, यदि उस्तरा ठीक हो तो हजामत अच्छी बन जाती है, और ठीक न हो तो हजामत बिगड जाती है; तथा मुँह भी अच्छा नहीं दिखता है । इस लिये उक्त मंत्रमें जो उत्तम हजामत बनानेका उल्लेख है, तथा उत्तम तेज उस्तरे की तारीफ है, वह ध्यानमें रखने योग्य है, उत्तम उस्तरे उत्तम फौलादके विना नहीं बन सकते तथा उत्तम फौलाद खास औद्योगिक सभ्यता के विना नहीं बन सकता । अब और भी देखिये ।—

उस्तरा तेज करने के लिये चक्की चाहिये कि जो घुमा कर उस्तरा तेज किया जा सकता है, ऐसे यंत्रका नाम वेद में 'भूरिज' (Grinding wheel) तेज करनेका चक्रयंत्र ऐसा नाम आया है, कैंचीके लिये भी "भूरिज" शब्द है, दरवाजों पर लगाने के लिये लोहेके तारकी जालियां होतीं हैं जिसके कारण कौवे वगैरा अंदर नहीं आ सकते; ऐसे जालियों का

वर्णन 'आयोजालानि' शब्दसे वेदनें किया है, पानी को एक स्थानसे दूसरे स्थान तक ले जानेके लिये लोहे की नालियां आपको चाहिये । इन का वर्णन "सुर्मी" शब्द द्वारा वेदनें किया है, इस प्रकार वेद आपको आवश्यक पदार्थ दे रहा है ।

वेदमें अनेक आयुधोंका भी वर्णन आया है, "आयुध" तथा "सुआयुध" ऐसा भेद वेदके मंत्रों में किया है, कई साधारण आयुध तथा कई उत्तम आयुध होते हैं, उत्तम आयुध उत्तम सामानके बन सकते हैं, जैसी उत्तम फौलादके विना उत्तम तलवार नहीं बन सकती । "आयुध, सुआयुध, उग्रायुध, तिग्मायुध" ये जो भिन्न भिन्न दर्जे के वैदिक शब्द हैं, वे व्यर्थ नहीं हैं । इन आयुधोंमें तर-तम-भावसे अवश्य भेद होता है, इस लिये यह भेद उन आयुधोंको बनानेवाले कारीगरोंकी विशिष्ट उन्नतिका अवश्य बोधक है ॥

"कर्त" शब्द वेदमें आया है, यह शब्द आरीका बोधक है । तर्खाण लोक जानते हैं कि आरी बनाना कोई साधारण कार्य नहीं है, इससे भी कठिन लोहेकी जालीका उल्लेख वेदमें है, 'अयोजालानि' । इसी प्रकार "धनु, इषु, तीक्ष्णेषु, स्वधिति" इत्यादि शब्दोंके विषय में जानना चाहिये, विविध प्रकार के "अस्त्र" भी वेद में आते हैं, शस्त्र वह होते हैं, कि जो हाथ में पकड कर शत्रुपर प्रहार किया जाता है, परंतु अस्त्र वह होते हैं, कि जो शत्रुके ऊपर दूर से फेंके जाते हैं, अस्तु इन शस्त्रास्त्रोंको देखने से पता लगता है, कि वेदके आदेश में युद्धविषयक शस्त्रास्त्रोंकी सभ्यता कुछ कम नहीं थी, अब गृहांतर्गत व्यवस्था देखते हैं । पूर्व स्थल- में बताया है, कि हर्म्य, प्रासाद, अट्ट, सौध, इन नामके बडे उत्तम मकान बनानेकी आज्ञा वेदमें पायी जाती है, जहां उत्तमोत्तम विशाल मकान होंगे, वहां वैसी और भी साधन-परंपरा होगी कि जो उन के साथ सरलता रखती हो ॥

ऐसे भव्य मकानों में रहनेवाले साधारण कपडे पहन नहीं सकते हैं, वेद में "वस्त्राणि" शब्द आया है, वह बताता है कि वेद में अनेक प्रकार के वस्त्रों की कल्पना है । वेद में "शुक्रवासाः" ऐसा एक शब्द आया है,

जो बताता है कि सफेद कपडों की कल्पना वेद में है, "शुक्रवासाः" शब्द का अर्थ सफेद कपडे ऐसा होता है। सफेद कपडों की कल्पना होने के लिए रंगीन कपड़े रहने की आवश्यकता है। वेद का "रंजयिता" शब्द रंगरेज का वाचक है जिससे कपडे रंगाने का बोध होता है। वेद में "दुर्वासाः" (बुरे कपडे) ऐसा एक शब्द आता है। जो अच्छे कपडे नहीं पहनता, उसकी निन्दा इस शब्द से की है। बुरे कपडों की निन्दा तथा अच्छे कपडों की प्रशंसा वेद में पाई जाती है। "सुवासाः युवा" तरुण युवा (जवान) लोग उत्तम वस्त्रों को परिधान करनेवाले हों। ऐसा एक वाक्य वेदमें आता है उससे पता लगता है कि वेद की आज्ञा जंगल में जाकर पत्तों से शरीर को आच्छादित करने कि नहीं है, परन्तु उत्तमोत्तम बडे विशाल मकानों में रहकर सुन्दर कपडे पहनकर अच्छी सभ्यता के साथ रहने की है।

वेद में "उष्णीष" शब्द आता है, यह शब्द साफा शब्द का पर्याय है, अर्थात् सिर के ऊपर साफा बांधने (Turban) की कल्पना वेद में है। "द्रापि" शब्द पुरुषों के (over-coat) ओवर कोट का बोधक है, "तर्प्य" शब्द रेशम के अंगवस्त्र का वाचक है जैसा कि कुडता आदि होता है। "सामूल" शब्द (woolen cloth) ऊन का शर्ट का वाचक है। "नीवि" तथा "परिधान" शब्द पहनने की धोतियों के वाचक हैं। सफेद लोई के लिए "पांडव" शब्द आया है, उसका विविध रंगों से रंगानेके पश्चात् "सामुल्य" नाम होता है। "वस्त्र, वसन, सुवसन" ये शब्द मोटे तथा बारीक धोतियों के वाचक हैं। धोतियां अथवा कोई कपडा चारों ओर से न फटे इसलिए मोड कर सीया जाता है, उस प्रकार के कपडे का नाम वेद में "तुस" ऐसा आया है। अस्तु इस प्रकार विविध कपडों का उपदेश वेद कर रहा है; रेशमी, ऊनी तथा, रुई के कपडों का वर्णन इस प्रकार वेदमें आया है। कपडे अच्छे होने चाहिए इस विषय में वेद में कई प्रकार से कहा है। साफा बांधने की कल्पना वेद में है। साफा भी उत्तम चाहिये क्योंकि उत्तम वस्त्रवालेकी प्रशंसा तथा बुरे वस्त्रवाले की निन्दा वेद में की हुई है। ये सब वस्त्र पहनने के हैं।

ऊन के वस्त्रोंकी भी कल्पना वेद में है "ऊर्णा" शब्द वेद में है। यह शब्द ऊन के वस्त्रों की कल्पना बताता है। तथा—

ऊर्णासूत्रेण कवयो वयंति ॥ य. १९।८०

ऐसा मंत्र वेद में आता है, उत्तम कवि लोग ऊनके सूत्रों से कपडा बुनते हैं । ऐसा उसका अर्थ है, अर्थात् ऊनके कपडे बुनने का काम अच्छे पढे लिखे विद्वान करें। यह आशय उक्त मंत्र का है। इससे यह प्रतीत होता है कि देश में जुलाहे लोग भी अच्छे पढे लिखे होने चाहिए, अर्थात् विद्या का प्रचार अच्छा और आम (सार्वत्रिक) होना चाहिए। जहां जुलाहे विद्वान होंगे वहां की सभ्यता जंगली कैसी हो सकती है, इसका विचार आप कर सकते हैं। अस्तु यह विचार कपडे लत्तों का हो गया, अब बर्तनों का विचार करते हैं।

"अलाबु-पात्र" शब्द वेद में आया है, वह बताता है कि कद्दु के बर्तन का उल्लेख वेद में है। "कुंभ" शब्द मिट्टि के वर्तनों का वाचक समझा जा सकता है, "आमपात्र" यह शब्द मिट्टि के कच्चे बर्तनों के लिये है। इस शब्द का अलग अस्तित्व बता रहा है, कि मिट्टि के बर्तन पकानेकी विधि वेद में है। मिट्टि के बर्तनों का उल्लेख वेद में आने से वैदिक सभ्यता घट नहीं सकती है, कारण इस समय में भी अच्छे सभ्य देश मिट्टि के वर्तनों में ही चा काफी का पान करते हैं; अस्तु मिट्टि के बर्तनों के सिवाय अन्य पदार्थ भी वेदमें हैं।

पानी भरने के बकेट के लिए "आहव, उदंचन" ये शब्द आये हैं, चावल आदि पकाने के लिये जो बर्तन होते हैं उनको "उकहा" कहते हैं, जो बर्तन बहुत चमकदार होते हैं, उनको "कंस" कहा है, जिन बर्तनों में रसायनीय पदार्थ रखते हैं उन को "कद्रु" कहा है, बडी बाल्टी के लिए "कोश" नाम आया है, रोटी खाने की थाली के लिए "पिशिल" शब्द आया है। चावलादि खाने के लिये "चमस" भी हैं। पानी पीने के कौल के लिए "द्रोण" शब्द है। हाथ पांव धोने के बर्तन के लिए "पान्नेजन" शब्द आया है, प्रवास में साथ पानी रखने के लिये जो (water bottles) पानी की बोतल होती है, उनको 'मणिक' वेद में

कहा है । पानी उबालने के लिये जो (kettle) केटलियां होती हैं उनका नाम वेदमें "चरू" होता है ! इस चरू के ऊपर एक ढकन होता है उनको "परिधान" कहते हैं । तथा उसको पकड ने के लिये दोनों ओर से हुक होता है, उसको "अंक" कहते हैं, यह लोहे का होने से इसको "अयस्मय" शब्द आया है । यह अयस्मयी चरू (लोहे की केटली) अग्नि के ऊपर टांगी जाती है अथवा रखी जाती है, और उस में पानी आदि उबालने का काम होता है ।

लकडी के बर्तनों के लिये "ध्रु" शब्द है, बांस के बर्तनों के लिये "शूर्प, मुतक" शब्द आया है । तथा धातुओं तथा मिट्टी के बर्तनों के लिये "पात्र" शब्द आया है। खेलने के जाल के लिये "मुक्षिज" शब्द आया है । तथा "उलूखल, मुसल" ये भी दो शब्द गृहस्थियों की बहुत सी आवश्यकतायें पूरी कर रहे हैं ।

"कलश" शब्द वेद में आता है वह तांबे के लोटे का बोधक है, "पात्र" शब्द सामान्य भांडे का बोधक है, "रजत-पात्र" शब्द वेद में आया है, वह चांदी के बर्तन का वाचक है, चांदी के बर्तन जहां बन सकते हैं, वहां सोने के बनने में कोई कठिनता नहीं हो सकती, केवल "हिरण्य" शब्द का ही अर्थ सोने के बर्तन ऐसा होता है ॥

वेद में "अय" (लोहा) "रजत" (चांदी) "सुवर्ण" (सोना) "सीस" (सीस) "हिरण्य" (सोना) इत्यादि धातुओं के नाम आये हैं, "सप्त धातु" का भी उल्लेख वेदमें आया है, जहां सप्त धातुयें हों वहां उन का उपयोग भी होगा, क्योंकि विना उपयोग कोई पदार्थ का नाम प्रयोग में नहीं आसकता ॥

सुवर्ण के आभूषणों के विषय में भी बहुत सा लिखा जा सकता है परंतु विस्तारभय के कारण थोडे से आभूषणों का वर्णन यहां करता हूं । बालों के अंदर रखने के शिरोभूषण स्त्रियों के लिये होते हैं, जिनका नाम "औपस" (hair ornament) वेद में आया है, "कर्णशोभन" (earing) कान में रखने का भूषण होता है । "कुरीर" शिर के ऊपर के भाग शोभित करता है, "निष्क" तथा "अत्क" ये दो शब्द सोने हीरे

मोती आदि से जो कंठी कंठे आदि बनते हैं, उन के वाचक हैं, "प्रवर्त" भूषण वह होता है जो कानों में डालते हैं, "रुक्म, मणि, प्रवेप, प्रकाश" इत्यादि अनेक नाम हैं, कि जो शरीर के विविध आभूषणों के वाचक होते हैं, "खादी" शब्द पांव के भूषणों का बोधक है।

सुवर्ण के अनेक भूषण होते हैं। विविध भूषण रख कर अपने अवयवों को शोभित करने वालों के नाम निम्न लिखित होते हैं, देखियेः—

"हिरण्यमणि" शब्द बताता है, कि सोने के मणि करने का उल्लेख वेद में है, हाथ में पहनने के सुवर्ण कंकणादि होते हैं, जो ये पहनते हैं, उनका वर्णन "हिरण्यपाणि" "हिरण्यहस्त" ऐसे शब्दों से वेद में आया है। बाहु के ऊपर सोने के आभूषण रखनेवालों का वर्णन "हिरण्यबाहु" शब्द ने वेद में किया है। छाती के ऊपर सुवर्णभूषण रखनेवाले का वर्णन "हिरण्यवक्षाः" शब्द वेद में कर रहा है; "मणिग्रीव" जो सुवर्ण के भूषण गले में रखता है, तथा जो स्वर्ण के दांत लगता है उसका वर्णन "हिरण्यदंत" शब्द से हुआ है, जिसके रथ चक्रमें सुवर्ण का काम होता है, उस को "हिरण्यचक्र" वेदनें कहा है, जिस के विषय-में सोनेका स्तंभ खडा किया जाता है, उस का नाम वेद में "हिरण्यरूप" ऐसा आया है, गले में रखने के कंठे सोने के बनाने का उपदेश वेदका "हिरण्यस्रक्" शब्द कर रहा है; गाय, बैल आदि पशुके सींग सुवर्ण से भूषित करने का उपदेश वेद का "हिरण्यशृंग" शब्द कर रहा है। वीरोंके विविध पदार्थों और शस्त्रों के ऊपर सोनेका नकशी का काम करते हैं, उसको वेदमें "हिरण्यवाशी" शब्द आया है "वाशी" शब्द का अर्थ हर एक प्रकार का शस्त्र है। घोडे के लगाम सुवर्णरज्जू के होते हैं जिनको "हिरण्यअ-भीशु" ऐसा कहते हैं। ऐसे अनेक शब्द हैं कि जो सोने के आभूषणों के वाचक हैं। जहां गाय बैल घोडे इन के आभूषण भी सुवर्ण के करने का वर्णन हो उस सभ्यता को जांगलीय सभ्यता कोई नहीं कह सकता है।

जिस प्रकार सुवर्ण के अलंकारों का वर्णन आया है, उस प्रकार नाना रत्नों का वर्णन भी वेदमें है; "रत्न, मणि" ये वैदिक शब्द उक्त विधान

की साक्षी दे रहे हैं, रत्नों के आभूषण करनेवाले जो कारीगर हैं, उन को वेदने "मणिकार" शब्द से पूजित किया है, जो रत्नोंको धारण करते हैं, रत्नों की माला अथवा आभूषण बनाकर जो पहनते हैं, उन का वर्णन "रत्नधातम" शब्द वेदमें करता है, जो सुवर्ण रत्नादि पदार्थ अथवा द्रव्य अपने पास बहुत रखता है उस को वेद में "सुनिष्क" कहा है, इतना ही सुवर्ण रत्नादिकों के विषय में लिखना पर्याप्त है॥

वाणिज्य के विषय में "पणि" तथा "वाणिज्य" शब्द बताते हैं कि वाणिज्य व्यवहार की कल्पना वेदानुकूल है॥

नौका आदि के विषय में वेद का वर्णन तो प्रायः सब जानते ही हैं। "शतारित्रां" सौ अरित्रों से जो चलाई जाती है ऐसी नौका का वर्णन वेद में है, "हिरण्ययी नौ" सुवर्ण से नकशी काम कीहुई नौका, ऐसी नौकाओं का वर्णन वेदमें आया है, इस का इतना ही उल्लेख करके कुछ अन्य विषय भी देखेंगे॥

"चर्मम्न" शब्द वेद में आया है; जो चमडा तैयार करनेवालों का बोधक है, चमडा कमाकर बहुत कुछ पदार्थ बनाये जा सकते हैं। युद्ध के शस्त्रास्त्रों के वर्णन में "वर्म, कवच, हस्तघ्न" इत्यादि शब्द आये हैं "वर्म" तथा "कवच" शब्द ढाल के वाचक हैं तथा "हस्तघ्न" शब्द हाथ के ऊपर लपेटनेवाले चमडेका बोधक है। धनुष्य बाण चलानेवाले मनुष्य धनुष्य की डोरी से हाथ न रगडा जाय इसलिए जो चमडेका वेष्टन हाथ के ऊपर बांधते हैं, उसको "हस्तघ्न" कहते हैं। चर्मम्न शब्द चमडों का धंदा करने वाले चमारों का बोधक है। जब कोई धंदा होता है उस समय लोकोपयोगी अनेक पदार्थ बनना अवश्य होता है। इसलिए चमडे का धंदा वेद में होना ही बताता है कि वैदिक सभ्यता में चमडे से बहुत कुछ कार्य लिया जाता होगा। देखिये "धृति" शब्द (Leather bag) चमडे के थैले का वाचक वेद में आया है; "अजिन" शब्द बैठने तथा ओढने के काम में आनेवाले चमडे का वाचक है। वाद्यों के ऊपर चमडा लगाया जाता था। "दुंदुभी" (Drum) "भूमि दुंदुभी"

(मट्टीका ढोल, 'लंबर, (Drum) लकडीका ढोल "आघात, आडंबर" ये शब्द छोटे तथा मोटे चर्म वाद्य के वाचक हैं। ये बता रहे हैं कि चर्म वाद्य का चमडा बनाया जाता था। घोडे गाडी, रथ आदिका भी बहुत सा सामान तथा "हस्तघ्न" आदि युद्धोपयोगी सामान चमडे का होता था। वेदमें "उपानह" शब्द भी आया है, जो बता रहा है, कि बूट, शू, जूते आदिका भी उल्लेख वहां है। धनुष्य की डोरी भी चमडे की खास प्रकार से बनाई जाती है, उसका वर्णन वेद में है। अस्तु। इन शब्दों को देखने से पता लगेगा कि वेद में चर्म का व्यवसाय भी बहुतसा है।

वेद में 'रज्जु' शब्द आया है वह बडे रस्सोंका बोधक है। रज्जु से बडे रस्से होते हैं जो जहाजों में लगते हैं, तथा जो भारी कार्योंमें लगते हैं जिनका नाम 'सन्नहन' वेदमें आया है। बारीक धागेके लिए 'तंतु' शब्द है। इन शब्दोंको देखनेसे विविध प्रकार के रस्सियोंका उल्लेख वेद में है, ऐसा हम कह सकते हैं।

चर्म वाद्य के विषय में पूर्व चर्म प्रकरण में बहुत कुछ कहा है। तंतु वाद्यों के विषयमें 'वीणा, वाणी, वाण' ये शब्द हैं। ये वाद्य धातुओं के तारोंसे बनते हैं अर्थात् इन वाद्यों का नाम अन्य प्रकार से सिद्ध करता है कि विशिष्ट प्रकार की तार भिन्न भिन्न धातुओं की बनाकर वाद्य बनना वेदानुकूल है।

बांसरी के लिए 'नादी' शब्द आया है, धातु की बांसरी के लिए 'तुणव' तथा 'करकरी' शब्द आये हैं। ये शब्द बता रहे हैं, कि वेद में दोनों प्रकार की मुरलियां हैं।

खाने पीने के पदार्थों के विषय में देखा जाय तो बहुत पदार्थ वेद में दृश्यमान होते हैं, सब पदार्थों को नमकीन बनाने वाला 'लवण' (लूण) वेद में है। 'दुग्ध, क्षीर, दधि, घृत,' ये सब गोरस के पदार्थ वेदमें वेद्यमान हैं, चावलों को पकाकर भात (ओदन) बनाने का उल्लेख वेद में है। दूध के साथ चावल पकाकर "क्षीरौदन" तिलों के साथ चावल पकाकर उत्तम 'तिलौदन' बनता है, वेदमें खिचडी है जिस को वहां

'मुद्गौदन' कहा है, साधारण भात 'उदौदन' नाम से प्रसिद्ध है, चावल पकाते हुये घी डालकर पकाने से बडे अच्छे बनते हैं, जिनका नाम 'घृतौदन' वेद में है, पके हुवे चावलों को अच्छे दधि में मिला कर थोडे मसाले के साथ घी का भगार देकर जो चावल बनते हैं, उसको 'दध्यौदन' वेद में कहते हैं। जो चावल भून कर बनाये जाते हैं उनको वेद ने 'परीवाप' कहा है। चावल, गेहूं, ज्वारी आदि कई धान्यों के प्रवाही पेय बन जाते हैं, जिसको 'यवागु तथा करंभ' नाम से पुकारते हैं। पूरी, भल्ले, वडे आदि जो पदार्थ हैं उनका 'अपूप' नाम से वेद में उल्लेख है, मीठी मीठी वडियां 'पक्ति' नाम से वेद में प्रसिद्धि हैं, 'पक्त पचत पचन' इत्यादि वैदिक शब्द उबले हुए पदर्थोंके दर्शक हैं। वेदका पिष्ट शब्द धान्यों के आटेका निदर्शक है, 'पायस, पायस्य, परिस्तुत पीयूष विषरिन्' इत्यादि शब्द दूध की विविध मीठी चीजें बता रहे हैं। 'पृषदाज्य, पृषातक, फान्त, मस्तु, आमिक्ष' इत्यादि वैदिक शब्द दही और घी के अनेक पदार्थों के दर्शक हैं, भोजन के साथ खाने के लिये शहद 'मधु' नाम से प्रसिद्ध है, रोटी खाने पश्चात् मीठा पेय गर्मी के दिनों में पीना होता है वह 'कीलाल' शब्द से वेद में प्रसिद्ध है, तात्पर्य आपके लिये खाने पीने की बहुत सीं चीजें वेद अपने शब्दोंद्वारा दे रहा है, इस को देख कर आप को आनंद होगा कि ऋषिकाल के वैदिक लोग खाने पीने में हमारे से पीछे न थे ॥

वेद में धान्य के नाम भी बहुत से आये हैं। देखिये (१) व्रीही, (२) यव, (३) माष, (४) तिल, (५) मुद्ग, (६) खल्व, (७) प्रियगु, (८) अणु, (९) श्यामाक, (१०) नीवार, (११) गोधूम, (१२) मसुर, इत्यादि विविध धान्यों का उल्लेख वेद में आया है ॥

इस प्रकार मैने विविध बातों के शब्द आप के सन्मुख रख कर बताया कि वैदिक संकृति कोई मामूली सभ्यता नहीं बताती है, प्रत्युत उत्तम उच्च सभ्यता बता रही ॥

अब राज्य आदि के विषय में देखिये (Self Government) स्वराज्य का उल्लेख 'बहुपाय्य स्वराज्य' शब्द द्वारा वेदमें किया है।

स्वदेशी राजा के अनियंत्रित राज्य के लिये वेद में एकपाय्य 'राज्य' शब्द आया है। बडे बडे मांडलिकों से जो नियंत्रित होता है, उस शासन के लिये 'सामंत पर्यायी' राज्य कहा है, देश के निसर्ग मर्यादाओं से जो राज्य बाधित होता है वह 'भौज्य' संज्ञक होता है। अनेक देश विभिन्न होते हुये एक राज्य में लीन होते हैं, वहां जो राज्य व्यवस्था चलती है, उस को 'महाराज्य' कहते हैं। भिन्न देश स्वतंत्र रहते हुये एक राजा के आधीन रहते हैं, उस को 'साम्राज्य' कहते हैं, जहां अधिकारियों के आधीन सर्व अधिकार होते हैं उसको 'आधिपत्यमय राज्य' कहते हैं। प्रजा के नियुक्त किये राजा को वेद 'वरुण' नाम से पुकार रहे हैं। इस प्रकार अन्यान्य अधिकारियों के लिये अन्यान्य नाम वेद में दिये हैं। विस्तारभय से यहां सब नहीं दिये जाते परंतु कुछ थोडे यहां देता हूं॥

पोलिस औफिसर का नाम 'उग्र' वेद में है, सैनिकों का नाम 'क्षत्र'। 'अर्यमा' नाम है कोर्ट के चीफ जज्ज का, (Village Judge) ग्राम का न्यायाधिकारी 'ग्राम वादी' नामसे वेद में प्रसिद्ध है। जज्ज के सहायक (Assesor) पुरुष होते हैं उनको वेद 'सभावीन्' शब्द से पुकारता है। न्यायालय में (Defendant) प्रतिवादी होता है उसका नाम वेद में 'अभिप्रश्नी' ऐसा आया है। शहादत देनेवालेका नाम 'ज्ञातृ' है। (Arbitrator) के लिए 'प्रतिप्रश्नी' नाम आया है। अस्तु। इतने शब्द देखने से आपके ध्यान में आया होगा, कि वैदिक न्यायालय भी बहुत रूपसे सांप्रतके समान ही है। (Stamp fee तथा Stamp) के लिए मैने कोई शब्द वेद में नहीं देखा, यही एक न्यूनता वैदिक न्यायालय में प्रतीत होती है!!!

नगरों में तथा पुरियों में रहनेवाले क्षत्रिय तथा तरुण तेजस्वी लोग सेही मर्दानी खेल खेलते होंगे जैसे कि खेलने चाहिये, घुड दौड के षयमें बहुत विस्तृत वर्णन वेद में है, जो घोडे घुडदौड (Horse ace) के लिए अत्युत्तम होते हैं उनको वेद 'अत्य' कहता है। जो धारण होते हैं उनको "वाजी" तथा "आशु" नाम दिये हैं।

"अक्ष" शब्द है (Racecourse) घुड दौड के मैदान के लिए । घुडदौड के मैदान पुरियों में नियत रहते हैं तथा घुडदौड के लिए बक्षीस भी दिया जाता है । घुडदौडका मार्ग गोल अर्धगोल तथा वक्रप्रतिगामी होने का सब उल्लेख वेद में है ।

अस्तु इस प्रकार शब्दों का विचार करने से हमें पता लगता है, कि वैदिक सभ्यता हमें पीछे लेजाने वाली नहीं है; बडे नगर, नगरोंमें बडे उच्च मकान, बडे मकानोंमें अलग अलग भोजनशाला, अग्न्यागार, स्त्रियों के लिये स्थान, मेहमानों के लिये स्थान, मिलने जुलने के लिये बडे हाल हैं, पान्थस्थों के लिये धर्मशालायें हैं, बडे बाजार हैं, दुकानें हैं, बडे बडे मार्ग हैं, नदियों पर पुल हैं, उत्तमोत्तम गाडी घोडे हैं, शस्त्रास्त्र हैं, उच्च कपडे हैं, आभूषणादि सोने हीरों के हैं, घुड दौड है, न्यायालय हैं, पोलिस हैं, विविध प्रकार के राज्य हैं, सब कुछ है, इन चीजों को देखते हुए हम कैसे कह सकते हैं, कि वैदिक सभ्यता एक साधारण जंगली संस्कृति है ।

मेरे खयाल में तो इन शब्दों को देखनेसे वैदिक सभ्यता एक अच्छी प्रशस्त तथा देदीप्यमान सभ्यता प्रतीत होती है, मैनें जो शब्द आपके सन्मुख रखे हैं, उनको आप विचार की दृष्टि से देखिये तथा सोचिये । मुझे उम्मेद है, कि आप भी ऐसा ही अनुमान करेंगे ॥

वैदिक सभ्यता में धनका स्थान।

"जो पीछे नहीं हटता वह विजय पाता है" और "जो सादीजंगी में रहकर उच्च विचार करता है वह शांति फैलाता है" यह वैदिक सभ्यताका आदर्श है। जो लोग अपना आदर्श "रहन सहन में चैनबाजी और विचारों में शून्यता" रखते हैं उन्हीं के कारण मनुष्योंके अंदर ईर्ष्याद्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और सब प्रकारकी अशांति उत्पन्न होती है। जो लोग ढामाडौल से रहते हैं वह सब के सब अपने व्यय के लिये आवश्यक लगनेवाला द्रव्यउत्पन्न नहीं कर सकते, इसलिये उन के व्ययके लिये पैसा उत्पन्न करने का भार अन्यों पर पडता है। इस का परिणाम यह होता है, कि जो पैसा उत्पन्न करते हैं वे पैसे का उपभोग नहीं ले सकते, परन्तु जो पैसा उत्पन्न नहीं करते वे दूसरों से उत्पन्न किये हुए पैसे का अपहार करके उसका व्यय अपने ऐष आराम में करते हैं। इस प्रकार की विषम समाज व्यवस्था जिस देश में होती है न केवल उस देश में अशांति रहती है, परन्तु उस देश के साथ जिन जिन देशों का संबन्ध होता है उन देशों में भी अशांति का साम्राज्य होता है, इस लिये वेदने कहा है किः—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। यजु० ४०।१॥

"किसी का धन न छीनो" अर्थात् दूसरे की चीज को अपने स्वार्थ के लिये न लगाओ। अगर यह उपदेश श्रीमान् और गरीब, बडे और छोटे, विद्वान् और अविद्वान्, धनी और नौकर, राजा और प्रजा, अधिकारी और जनता, बलवान और निर्बल मानेंगे और उस के अनुकूल अपना आचरण करेंगे, तो सर्वत्र शांति रहेगी। आजकल की दुनियां में फैली हुई अशांति उक्त उपदेश का त्याग करने से हि उत्पन्न हुई है॥

जिस प्रकार एक मनुष्य को अपने पडोसी को लूटकर अपना सुख बढाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार एक राष्ट्र को भी अपने

पडोसी राष्ट्र को लूटकर और उनकी अज्ञानता का फ़ायदा उठाकर अपना स्वार्थ नहीं करना चाहिए। इस समय लोग समझते हैं कि पडोसी को लूटने से हम सुखी होंगे, परन्तु वह नहीं सोचते कि जैसे अपने कमजोर पडोसी को हम लूट सकते हैं वैसे ही हमारा बलवान पडोसी हमें लूट सकता है। इस अनवस्था को दूर करने का एक ही उपाय उक्त मन्त्र में दिया है कि, "हे मनुष्य! किसी का धन न छीनो" ॥

सारे संसार के अन्दर शांति प्रस्थापित करने वाले इस उपदेश में धनका महत्व बडी उत्तमता के साथ वर्णन किया है। दूसरे के धन का अपहार करने की बुद्धि से अशांति उत्पन्न होती है तथा दूसरे के धन का रक्षण करने की बुद्धि से शांति का स्रोत बहने लगता है। अर्थात् धन कोई खास सुख का हेतु नहीं, परंतु उसकी ओर जिस प्रकार की दृष्टी से हम देखते हैं, उस प्रकार वह सुख या दुःख देनेवाला बन सकता है। दान से धन का भोग करना चाहिए, परंतु कदापि उसका अपहार नहीं करना चाहिए। अर्थात् धन का उपयोग दान में करना चाहिए अथवा धन दान के लिये है, अपहार के लिये नहीं है ऐसा मानना चाहिए। धनका दान करने से सुख की वृद्धि तथा अपहार करने से दुःख की वृद्धि होती है। इसी हेतु से कालीदास कवि ने रघुकुल का वर्णन करते समय कहा है कि "त्यागाय संभृतार्थानां" (जो दान के लिये ही धन कमाते हैं।) यह रघुकुलका वर्णन वेद के भाव के अनुकूल ही है। दान भी करना हो तो प्रथम न्याय से धन अवश्य कमाना चाहिये। जिस के पास धन न हो, तो वह क्या दान करेगा? इस लिये वेदाज्ञा के अनुसार धन का उपयोग करने के लिये धन कमाना अत्यन्त आवश्यक हुआ। विद्यादान करना हो तो ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या प्राप्त करनी चाहिए, द्रव्यदान करना हो तो धर्मानुकूल अनेक कर्म करके धन प्राप्त करना चाहिये। जो जिस के पास न हो उसका दान उस से नहीं हो सकता। इसी लिये वेदों में धन प्राप्त करने की इच्छा बताने वाले सैकडों मन्त्र हैं। देखिये :—

त्वं विश्वस्य धनदा असि०। ऋ० ७।३२।१७

वृषा चोदयस्व महते धनाय। ऋ० १।१०४।७
सुवीरासो वयं धना जयेम०। ऋ० ९।६१।२३

इस प्रकार वेद के अनेक मन्त्र हैं कि, जो धन प्राप्त करने की इच्छा वैदिक धर्मानुयायी लोगों के अन्दर बढा रहे हैं। वेद का उपदेश धन को दूर रखकर गरीबी में गुजारा करने की ओर ले जाने वाला नहीं है, परंतु न्याय से धन प्राप्त करके, धनी बनकर, (परंतु ध्यान में रहे, आसक्ति छोड, त्याग के भाव के साथ धनका उपभोग करते हुए) सुखी बनने की ओर मनुष्यों को ले जाने वाला है।

निर्धनता में रहना आसान है, परंतु संपत्तिमान् बनकर त्याग और दान के भाव के साथ उस धनके ऊपर की आसक्ति छोड कर, व्यवहार में बर्ताव करना बहुत कठिन है। निर्बल रहना आसान है, परंतु बलवान बनकर अपने बल का उपयोग निर्बलों के रक्षण के लिये करना बडा कठिन है। अज्ञान अवस्था में रहना आसान है, परंतु ज्ञानी बनकर अपने ज्ञान का उपयोग अज्ञानियों के अज्ञान को दूर करने में करना बडा कठिन है। यही कठिनता वैदिकधर्म में है, इस लिये इस के सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करना या व्याख्यान देना आसान प्रतीत होता है, परंतु सिद्धान्तों का पालन करना बडा कठिन होता है। अस्तु।

किन किन गुणों से धन प्राप्त हो सकता है यह नीचे के मन्त्र में दिया है :—

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रति जन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः॥

ऋ० ४।५०।९

"जो पीछे नहीं हटता वह व्यक्ति सम्बंधी तथा समूह संबंधी धन प्राप्त करने में विजय पाता है, जो राजा रक्षा चाहने वाले ज्ञानी (और [विद्]वान) की रक्षा करता है उसी की विद्वान सहायता करते हैं" ॥

इस मन्त्र में 'अप्रतीत' यह एक शब्द विशेष महत्व का है। उसके "अ+प्रति+इतः" ऐसे तीन विभाग हैं। इस में से हर एक का अर्थ यह है :—

अ=नहीं ।

प्रति=पीछे, विरुद्ध, नीचे, उलटा, अधोगति ।

इतः=गया हुआ, प्राप्त हुआ हुआ ।

इन तीनों अर्थों को जोडने से उक्त मंत्र का अर्थ यह होता है कि–

"जो पीछे नहीं हटता, जो विरुद्ध काम नहीं करता, जो उलटे मार्ग से नहीं चलता, जो अधोगति को नहीं जाता, वह एक व्यक्ति के प्राप्तव्य तथा समूह के प्राप्तव्य सब धनों को प्राप्त कर सकता है" अर्थात् जो अपनी अवनति के कार्य नहीं करता और उन्नति के मार्ग में पुरुषार्थ करता है, वही सब धनों को प्राप्त करता है, इसी आशय को लेकर श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः । गीता ६।५ ॥

"अपनी स्वयं उन्नति करनी चहिए, अपनी गिरावट नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आपही अपना भाई और आपही अपना शत्रु है" यही आशय उक्त मंत्र में है "जो पीछे नहीं हटता वह विजय पाता है" यही इस विश्व में सिद्धि प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है । जो शिर पर हाथ मार कर "हा दैव" करके मुंह छिपाकर बैठते हैं वे कभी सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकते । आजकल उत्पन्न हुआ हुआ दैववाद वेद के किसी मन्त्रमें नहीं है, अगर वेद में किसका मूल नहीं है तो इसी दैववाद का नहीं है । मैंने चारों वेदों में ढूंड ढूंड कर बडे परिश्रम से देखा परंतु किसी मंत्र में दैववाद का थोडा भी मूल मुझे नहीं प्राप्त हुआ । चारों वेदों में "नसीब" के अर्थ का कोई एक भी शब्द नहीं आया है । यहां तक पुरुषार्थवाद से वेद परिपूर्ण भरा है ॥

संशय निवारणार्थ यह कहना भी आवश्यक है कि वेद में देव, दैव देवता ये शब्द एक ही अर्थ में आते हैं और उनका भाव विशेषतया वैज्ञानिक है । मैं ने जो ऊपर कहा है, उसका भाव उतना ही है कि "नसीब" के अर्थ का कोई शब्द वेद में नहीं हैं । इसलिये मैं कहता हूं

कि आज कल का दैव-वाद (Fatalism) अवैदिक होने से वैदिक धर्मियों को मानने योग्य नहीं है। और इसी दैववाद के कारण हमारी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रगत बडी हानि हुई है। योगवासिष्ठ जैसे पुस्तकों में भीः—

दैवं नास्तीति निश्चयः ॥ योगवासिष्ठ ॥

"दैव है नहीं यही (धर्म का) निश्चय है" ऐसा स्पष्ट शब्दों में कहा है। अर्थात "जो दैववाद को छोडता है और पुरुषार्थ को पकड कर पीछे नहीं हटता, वही निश्चय से सब धनों को जीतता है" ऐसा भाव उक्त (अप्रतीतो जयति) इस मंत्र का होगया।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ मनुष्य को साधने योग्य हैं। इनके अंदर अर्थ-(धन) यह दूसरा पुरुषार्थ है। चतुर्विध पुरुषार्थों में धन की गिनती होने से भी धन प्राप्तव्य पदार्थों में है ऐसा निश्चय होता है।

उक्त मंत्र में (१) प्रति जन्य (एक व्यक्ति संबंधी) तथा (२) सजन्य (समूह संबंधी) ऐसे दो प्रकार के धनों का वर्णन है। शरीर संपत्ति, पगार, कपडे लत्ते, घर आदि व्यक्तिगत धन है; तथा राष्ट्रीय द्रव्यनिधि, राष्ट्रीय व्यापार, कला कौशल आदि राष्ट्रीय धन हैं। वेद में जहां जहां धन शब्द आया है वहां वहां प्रसंगवशात इन दोनों धनों का ग्रहण होता है। यह मंत्र बताता है कि मनुष्य को अपना व्यक्तिगत धन प्राप्त करके संतुष्ट नहीं होना चाहिए प्रत्युत अपने राष्ट्र का धन अपने प्रयत्न से बढ रहा है या नहीं, इसका भी विचार करना चाहिए। राजा का भी यह कर्तव्य है कि जिस देश पर उसका राज्य है उस देश का धन बढाने का वह सदैव प्रयत्न करता रहे। अपने राष्ट्र का धन घट जाने का जहां से संभव हो वहां से उस विघ्न को हटाकर अपने राज्य की संपत्ति बढावें। जो ऐसा करता है उसी का रक्षण विद्वान लोग करते हैं, ऐसा उक्त मंत्र में कहा हैः—

अवस्यवे यो वरिवः कृणोति।
ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः॥ ऋ० ४।५०।९

"(यो राजा) जो राजा (अवस्यवे ब्रह्मणे) संरक्षण की इच्छा करने-वाले ज्ञानी के लिये अथवा ज्ञान के लिये (वरिवः) सन्मान, धन, स्थान, सुख तथा आराम देता है (देवाः) विद्वान (तं) उसी राजा का (अवन्ति) रक्षण करते हैं"।

इस मंत्र से पता लगता है कि राष्ट्र में राजा का कर्तव्य है कि वह ज्ञान की वृद्धि के लिये विद्वानों का सन्मान करे, उनको धन दे, उनको स्थान दे, उनको सुख तथा आराम दे। हर एक प्रकार से ज्ञानियों का सहाय्य कर, अपने राष्ट्र का ज्ञान बढावे और ज्ञानवृद्धि के द्वारा धनवृद्धि करने में सहायता करे। ज्ञान प्राप्त करके न्याय धर्म पूर्वक धन कमाना वेदानुकूल है। परंतु कई लोग समझते हैं कि धर्मानुकूल धन प्राप्त करने का बडा लंबा मार्ग है, जूआ आदि खेलकर अथवा इसी प्रकार के अन्य कुमार्गों से शीघ्र धन प्राप्त होता है। यह धन-प्राप्ति का छोटा मार्ग, जो लोग पसंद करते हैं, उनको निम्न मंत्र अवश्य देखना चाहिए:—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यत् धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति ॥
स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥

ऋ० १०।३४।१०-११ ॥

जूवे का परिणाम कितना भयानक है और जूवेबाजी से कुटुंब की कितनी हानि होती है इसका वर्णन उक्त दो मंत्रों में अच्छी प्रकार किया है। उक्त मंत्र कहते हैं:—

(कितवस्य) जूआ खेलने वाले की (जाया) स्त्री (हीना) हीन अवस्था को प्राप्त होने से (तप्यते) दुःखी होती है। तथा अपना (पुत्रस्य) लड़का (क्व स्वित्) जहां कहां (चरतः) भटकता है यह देखकर (माता) उसकी माता भी रोती पीटती है। इधर जूआ खेलने वाला (बिभ्यत्) डरता हुआ (ऋणावा) कर्ज में डूबा हुआ (धनं इच्छमानः) धन कमाने की इच्छा से (अन्येषां अस्तं) दूसरों के घर (नक्तं

उप एति) रात्री के समय घूमता है । अर्थात् जुवेबाज की स्त्री तथा माता सब कष्ट में पड़ती हैं और वह स्वयं भी किसी प्रकार के सुख को प्राप्त नहीं होता, और दुःखी होता हुआ रात भर भटकता है।

(स्त्रियं दृष्ट्वाय) अपनी स्त्री की हालत देखकर (कितवं तताप) जूवेबाज को दुःख होता है, जो जूवेबाज (अन्येषां) दूसरों की (जायां) स्त्री को तथा (सुकृतं योनिं च) उनके ठीक ठाक काम काज को तथा मकान आदि को उत्तम हालत में देखकर तथा अपनी हीन अवस्था देखकर बड़ा कष्टी होता है। जो जूवेबाज (पूर्वाह्णे) सवेरे (बभ्रून् अश्वान् युयुजे) भूरे रंग के घोड़े जोतता था, वही (वृषलः) धर्म छेदक शाम को (अग्नेः अन्ते) अग्नीकी समाप्ति होने पर (पपाद) गिर पड़ा। अर्थात जो सवेरे घोड़ागाड़ी में बैठता है वही पुरुष शाम के समय इतना कंगाल बनता है कि उसके पास सवेर की आग समाप्त होने पर, पुनः आग जलाने के लिये लकड़ियां भी नहीं होतीं ॥ जिस जूवे के कारण कुटुंब की इतनी दुरवस्था होती है उस व्यसन के अंदर किसी को फसना नहीं चाहिए।

अर्थात जो जो इसी प्रकार के धन प्राप्ती के छोटे अन्यान्य मार्ग हैं वे सब त्याज्य हैं। धर्मानुकूल जो सीधा मार्ग है उसी से मनुष्यों को धन प्राप्त करना चाहिए यही भाव वेद मंत्रों का स्पष्ट है । क्योंकि उसी से मनुष्य समाज में शांति स्थिर रहती है, समाज की शांति स्थिर रखकर, समाज की उन्नति में अपनी उन्नति समझकर, धर्मानुकूल धन कमाना चाहिए।

वेदने कहा है कि शौर्य से क्षत्रिय को, व्यौपार से वैश्य को, हुनर से शूद्र को धन कमाना चाहिए । परन्तु ब्राह्मण को ज्ञान से धन कमाना चाहिए ऐसा किसी स्थान पर भी नहीं कहा। इससे प्रतीत होता है कि, ब्राह्मण को धन कमाना अपना उद्देश्य नहीं रखना चाहिए, प्रत्युत ज्ञान पा कर उसका प्रचार करना ही अपना जीवनोद्देश धरना चाहिए। तथा क्षत्रिय वैश्य शूद्रों का धन उनका नहीं हैं परन्तु वह धन सब ब्राह्मणों का ही होता है ब्राह्मण ही सच्चा स्वामी है यह वेद का सिद्धान्त है। तथा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये धन के रक्षक हैं। देखिये:—

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥

अथर्व० ५।१७।९

"ब्राह्मण ही स्वामी है, क्षत्रिय नहीं, तथा वैश्य भी नहीं । यह (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) इन पांच मनुष्यों को कहता हुआ सूर्य चलता है" ।

इस मन्त्र में ब्राह्मण ही स्वामी है यह बात स्पष्ट कही है । यहां ध्यान में एक बात रखनी चाहिए कि वेदके अनुसार पैसा आना रुपया और मोहर यही केवल धन नहीं है । परन्तु शरीरसंपत्ति, पुत्रधन, स्त्रीधन, पतिधन, बुद्धिसंपत्ति, विद्यासंपत्ति, गोधन, अश्वधन इत्यादि अनन्त धन हैं । जिससे मनुष्य अपने आपको धन्य समझ सकता है वही धन है ॥ जैसा पति के कारण स्त्री धन्य होती है, इसलिये स्त्री का धन पति है तथा स्त्री के कारण पति धन्य होता है, इसलिये पति का धन स्त्री है । इसी हेतु से उक्त मत्र में स्त्री का उद्देश रखकर ब्राह्मणों के स्वामित्व का सामान्य विधान किया है, इसीलिये उक्त मत्र में "स्त्री" शब्द का उल्लेख नहीं है, परन्तु इतना ही कहा है कि "ब्राह्मण ही सच्चा स्वामी है" ।

वेद के अनुसार संपत्तियां सैंकड़ों हैं:—

एकशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं ।
तन्वा जनुषोऽधिजाताः ॥

अथर्व० ७।११५।३

"मनुष्य के शरीर के साथ एक सौ संपत्तियां उत्पन्न हुई हैं" । अर्थात् कम से कम मनुष्य का उत्पत्ति सिद्ध अधिकार एक सौ संपत्तियों पर है । जो कमाकर प्राप्त करनी होगीं वह दूसरीं हैं परन्तु ये सौ संपत्तियां स्वभावसिद्ध मनुष्य के साथ पैदा होती हैं । सौ संपत्तियों की गिनती वे के आधार से करने का मैंने यत्न किया, परन्तु अब तक उतना पठन पाठ न होने के कारण मैं इस इच्छा में कृतकार्य नहीं हो सका । कोई विद्वा पुरुष इनकी गिनती कर सकता है । अस्तु! इससे यह सिद्ध हुआ

पैसे के अतिरिक्त अन्य बहुतसीं संपत्तियां हैं जो मनुष्य को धन्य व सुखी बनातीं हैं। इन सब का सच्चा स्वामी ब्राह्मण है। वेदानुकूल ब्राह्मण वह होता है कि जिसने ज्ञान के लिये अपने आपको अर्पण किया हो, जो ज्ञानरूप, ज्ञानमय बना हो तथा जो सांसारिक भोगों पर आसक्त न हो, अर्थात् जो संपत्ति का स्वार्थ में उपयोग करने वाला न हो। इस प्रकार तथा ब्राह्मणों के अन्य गुणों को धारण करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण संपत्ति का सच्चा मालिक तथा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये उसके निर्माणकर्ता तथा रक्षणकर्ता हैं। इसी लिये कहा है किः—

ब्रह्मणे दद्यात्० ॥ अथर्व० ३।२८।२

ब्रह्मणे देयमाहुः० अथर्व० ९।५।७

"धन ब्राह्मण को ही देना चाहिए" अर्थात् अन्यत्र उसको अपने स्वार्थ में लगाना, अपने ही सुख के लिये उसको खर्चना मानो धनका अपहार करना है, क्योंकि धन तो ब्राह्मण का है उनका है ही नहीं। इसलिये कहा है किः—

ददामीत्येव ब्रूयात्०। अथर्व० १२।४।१

"देता हूं ऐसा ही बोलना चाहिए"। धन का दान सत्पात्र में करना ही उचित है। जो स्वार्थ में उसको खर्च करते हैं अथवा उसको संदूक में बंद करके रखते हैं वह सब अपहार करने वाले ही हैं। अस्तु यहां तक जो विचार किया है उस से यह सिद्ध हुआ कि धन न्याय से प्राप्त करना तथा उस का सत्कार्य में व्यय करना वैदिक धर्म के अनुकूल है। अब देखना है कि इसी विषय में वेद ने अपने शब्दों में क्या कहा हैः—

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषिणां प्रार्पणः सोमगोपाः।

ऋ० १०।४५।५

अर्थ—(रयीणां) धनों का (धरुणः) धारण करने वाला तथा (श्रीणां) धनों का (उदारः) उदार अर्थात मुक्त हस्त से धनों का दान करने वाला (मनीषिणां) बुद्धिमानों को (प्र+अर्पणः) विशेषकर अर्पण करने वाला (सोम-गो-पाः) सोम का रक्षक, विद्वान का रक्षक है।

"जो धनों को प्राप्तकरेगा वही धनों का दान करेगा, जो विद्वानों के लिये अर्पण करेगा वही उनकी रक्षा करेगा, यह आशय उक्त मंत्र का है। धन के दान में उदार होने के लिये वेद में लिखा है, इस मंत्र में दूसरी बात विशेषकर ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि (मनीषी) विद्वान, बुद्धिमान, मनःसंयमी को धन का दान करना चाहिये। जो अज्ञानी, निर्बुद्धि, विचारहीन, मन का संयम न करने वाले दुर्व्यसनी, दुराचारी, परोपकार न करने वाले, जो होंगे उनको दान नहीं देना चाहिये, क्योंकि अगर ऐसे लोगों के पास धन आजाय तो जगत् में अधिक अनर्थ उत्पन्न हो सकते हैं। धन कौन कमा सकता है इस विषय में निम्न लिखित मंत्र देखने योग्य है:—

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वसाह्ळः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥

ऋ० ९।९०।३

"जो शूर, सब प्रकार का वीर, सहन शक्ति वाला, विजयी, शस्त्र अस्त्रों से युक्त करनेवाला, युद्ध में शत्रु को असह्य तथा शत्रुके मन में डर उत्पन्न करने वाला जो होता है वही धन प्राप्त कर सकता है।

अर्थात् जो डरपोक, निर्वीर्य, निःसत्व, कमजोर, डर से भागने वाला, पीछे हटने वाला, शस्त्रास्त्र हीन, युद्ध में निकम्मा, शत्रुओं से डरने वाला होता है वह सदा दरिद्रता में मरता है, उसको कोई आशा नहीं कि वह उठे और अपना प्रताप फैलाये।

वेद के अंदर एक बडी भारी खूबी देखने में आती है, वह यह है कि, वेद में धन के साथ शौर्यवीर्य की प्रार्थना है। शेंकडों स्थानो पर—

रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ० १०।१५।११

'सब वीरता के साथ धन दे' ऐसी ईश्वरकी प्रार्थना है। केवल धन है क्यों नहीं मांगा और वीरता युक्त धन क्यों मांगा है, यह सोचना चाहिये आप सोच सकते हैं, कि द्रव्य या राज्य पास होने पर भी जबतक उसकी रक्षा करने का सामर्थ्य उसके स्वामी के पास न हो तबतक उस से

लाभ नहीं हो सकता है इस विश्व के अंदर कितने धनी धन की रक्षा करने की शक्ति न होने के कारण दरिद्री बने हैं, तथा राज्य की रक्षा करने के लिये असमर्थ होने के कारण कितने राज्यभ्रष्ट होगये। जो राजे या धनिक इस प्रकार जन्म से धनिक उत्पन्न होकर पश्चात् निर्वीर्य होने के कारण दरिद्री बनते हैं उनको बहुत कष्ट होते, हैं अपेक्षा उनके कि जो जन्म से निर्धन हैं। इसलिये वीर्य हीनता की अवस्था में धन प्राप्त होना यह अधिक दुःखदायक है। इसी हेतु से वेद ने कहा है कि 'शूरता के साथ धन कमाओ'। इस प्रकार कमाया हुआ धन दान में खर्च करना चाहिये। दान के विषय में ऋग्वेद में एक सूक्त देखने योग्य है:—

धनान्नदानप्रशंसा ॥ ऋषि–भिक्षुः ।

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युताऽपृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥

ऋ० १०।११७।१

(देवाः) देवों ने (क्षुधं) भूख (इत्) निश्चय से (वधं) मारने के लिये (न वा उ) नहीं (ददुः) दी है। (उत) कारण कि (आशितं) भोजन करने वाले धनिक को भी (मृत्यवः) मृत्यु (उपगच्छन्ति) प्राप्त होता है। अर्थात् गरीबों को मारने के लिये हि ईश्वर ने भूख पैदा की है यह विचार गलत है, क्योंकि बड़े धनिक भी, जो कि जितना चाहें अन्न खा सकते हैं, वे भी मरते हैं। इसलिये गरीबों की धन अन्न आदि से सहायता करनी चाहिए। इस प्रकार दान में जो धनव्यय होता है वह (पृणतः) दाता का (रयिः) धन (उत) निश्चय से (न उपदस्यति) नहीं नाश करता। (उत) परंतु (अपृणन्) जो दान नहीं देता है वह (मर्डितारं) सुखदायक मित्र (न विन्दते) प्राप्त नहीं कर सकता। ...र्थात दान से लाभ ही होते हैं और किसी प्रकार की हानि नहीं होती। ...लिये हरएक को अवश्य दान करना चाहिए।

...न का अभिमान किसी को नहीं करना चाहिये इस विषय में अगस्त्य

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥

ऋ० १०।११७।५

धनिक को (नाधमानाय) गरीब के लिये (पृणीयात्) सुख देना चाहिए। धनिक को (द्राघीयांसं) लंबा (पन्थां) मार्ग (अनुपश्येत) देखना चाहिए। अर्थात् धनिक को वर्तमान काल की अपनी स्थिति हि देखनी नहीं चाहिए। परन्तु अपनी भविष्य काल कि अवस्था की ओर भी एक दृष्टि रखनी चाहिए। कौन जानता है कि मनुष्य के लंबे भविष्य-काल में इस समय का धनिक निर्धन बन जायगा अथवा निर्धन धनिक बनेगा। इसलिये धनिक को उचित है कि अपनी दातृत्व शक्ति को बढावे। कारण (रथ्या इव चक्रा वर्तन्ते) रथ के चक्रों के समान (रायः) धन (अन्यं अन्यं) दूसरे दूसरे को (उपतिष्ठन्ते) प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार रथ के चक्र घूमते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार संपत्ति का चक्र भी घूमता रहता है। आज एक श्रीमान् हुआ तो कल वह दरिद्री बनता है और दूसरा श्रीमान् बनता है। पिता धनिक बना तो यह निश्चय नहीं कि पुत्र के समय में भी वही अवस्था रहेगी। इसलिये भविष्य काल की ओर दृष्टी देकर प्रत्येक मनुष्य को यथाशक्ति सत्पात्र में दान करना चाहिए।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाऽघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०।११७।६

जो (अप्रचेताः) असंस्कृत बुद्धि वाला (मोघं) व्यर्थ, परिश्रम के बिना (अन्नं) अन्न (विन्दते) प्राप्त करता है, उसका वह अन्न (तस्य इत् स वधः) उसका निश्चय से वह मृत्यु है (सत्यं ब्रवीमि) मैं सच कहता हूं। अर्थात् जो परिश्रम न करके बापदादा की कमाई का अथवा दूसरे का अपहार करके प्राप्त हुआ अन्न खाता है, वह अन्न उसकी मौत है इसमें कोई संदेह नहीं। जो (अर्यमणं) श्रेष्ठ कार्य करने वाले को, (सखायं) हितकारक मित्र की (न पुष्यति) सहायता नहीं करता।

जो (केवलादी) केवल अपना ही पेट भरने वाला (भवति) होता है वह (केवलाघः) केवल पाप की मूर्ति है । इसी वेदमंत्र का अनुसरण गीता ने किया है:—

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म-कारणात् ॥

गीता ३।१३

"जो लोग केवल अपने लिये ही पकाते हैं वे पापी पाप ही खाते हैं"। यह गीता का श्लोक "केवलाघो भवति केवलादी" इस मंत्र का भाषांतर ही प्रतीत होता है। अस्तु । इस से सिद्ध हुआ कि धन का उपयोग सत्पात्र में दान करने में होना चाहिए तथा उसका उपयोग केवल अपने स्वार्थ में करना पाप है।

ऊपर ऋ० १०।११७ सूक्त के तीन मंत्र दिये हैं। यह सब सूक्त ही हर एक वैदिक धर्मी मनुष्य के मनन करने योग्य है।

इस प्रकार इस निबंध में (१) किन किन गुणों से धन प्राप्त हो सकता है, (२) धन की रक्षा करने का उपाय, (३) कृतकार्य होने तक पीछे न हटने से लाभ, (४) वेद में दैववाद का अभाव, (५) चोरी जूआ आदि से धन कमाने का निषेध, (६) धन के सच्चे स्वामी का वर्णन, (७) धन के सैंकड़ों प्रकार, (८) दान का भाव, (९) दान देने के लिये सत्पात्र कौन है, (१०) शौर्य के साथ धन का साहचर्य, (११) धन अन्न दान की प्रशंसा करने वाले सूक्त का स्वरूप, (१२) कौनसा अन्न पाप रूप है, कौनसा अन्न मृत्युरूप है तथा कौनसा धर्मरूप है; इत्यादि बातों का संक्षेप से उल्लेख किया है। जिसको देखने से वेद में धनका जो सच्चा स्थान है उसकी ठीक कल्पना हो सकेगी। मेरा विश्वास है कि वैदिकधर्म ने धन के लिये जो स्थान दिया है उतना ही धन के लिये स्थान, दुनियां के सब लोग देंगे और परोपकार के लिये धन है ऐसा ही समझेंगे और वैसा ही बर्ताव करेंगे, तो इस भूमंडल पर शांति का साम्राज्य अक्षय होगा । इसलिये वैदिक धर्मियों को उचित है कि, वे अपना वैदिक धर्म सर्वत्र फैलाने के लिये, अपने स्थानिक तथा संकुचित मत भेदों को दूर रखकर, धर्म के उच्च तत्वमंडल में आकर, कार्य करने के लिये कटिबद्ध होजांय ॥

सप्त व्याहृति ।

उपासनामें प्राणायामादि करनेके समय व्याहृतियोंका उच्चार किया जाता है । संपूर्ण वैदिक ग्रंथकारोंने व्याहृतियोंका अत्यंत महत्व माना है, तथा उनमें पवित्रता भी सबसे अधिक मानी है ॥ ये व्याहृतियां सात हैं, "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं ।" इन सात शब्दोंका जो इतना महत्व माना गया है, वह क्यों है, इसका अवश्य विचार करना चाहिये ।

सात व्याहृतियोंके अंदर "भूः, भुवः, स्वः" ये तीन व्याहृतियां "महा व्याहृति" नामसे सुप्रसिद्ध हैं । अन्य चारोंको अर्थात् "महः, जनः, तपः, सत्यं" इनको केवल व्याहृति ही कहा जाता है । पहिले तीनोंमें इतना महत्व क्या है तथा उनके अंदर किस प्रकारका श्रेष्ठत्व है, उसका भी विचार अवश्य होना चाहिये । यह सब विचार होनेके लिये सबसे प्रथम "व्याहृति" शब्दका अर्थ देखना चाहिये—

व्याहृति शब्दका अर्थ ।

"व्याहृति" शब्दकी उत्पत्ति "वि+आ+हृ" इस धातुसे हो गई है । "हृ" धातु है और उसके पीछे "वि+आ" ये दो उपसर्ग लगे हैं । इनका अर्थ क्रमशः देखिये—

(१) वि+आ+हृ=(व्याहृ[1])=बोलना, कहना, कथन करना, वर्णन करना, निरूपण करना, प्रकाशित करना, बताना, स्पष्ट करना, समझाना, उत्तर देना ।

(२) व्याहरणं—शब्दका उच्चारण, वक्तृत्व, भाषण, वृत्तांत, वर्णन

१ व्याहृ–To speak, say, utter, tell, narrate, declare. To explain, to answer.

(३) व्याहारः—भाषण, शब्दोच्चारण, शब्द, स्वर, ध्वनि, आवाज, हास्यपूर्ण उच्च आवाजमें वक्तृत्व ।

(४) व्याहृत—कहा हुआ, बोला हुआ (शब्द) ।

(५) व्याहृति—भाषण, शब्दोच्चारण, वक्तृत्व, शब्द, निवेदन, कथन, वर्णन, निरूपण । (A mystic word) गूढार्थका शब्द, रहस्यकी बात, गुप्त बात, गुप्त रहस्य का कथन, ज्ञानका सांकेतिक शब्द, गुप्त ज्ञानका संकेत । वाक्य ॥

"व्या+हृ" धातुकी यह सब शब्दसंतति है । इन सब शब्दोंमें "वक्तृत्व" का संबंध है । अर्थात् भाषण वक्तृत्व आदि भाव सबमें हैं । "व्याहृति" शब्दमें जो विशेष भाव है, वह गुप्तता और गूढ रहस्य का भावही है ।

जो ज्ञान संपूर्ण जनतामें खुलंखुला नहीं है, साधारण लोग जिसको प्राप्त नहीं कर सकते, जो साधारण लोकोंके समझमें नहीं आ सकता; गुप्तविद्या, गुह्यज्ञान, रहस्य का मंत्र आदि प्रकारसे जो थोडे श्रेष्ठ ज्ञानियोंके पास ही रहता है; जिसमें गुप्त और अत्यंत महत्व पूर्ण उपदेश भरा है, रहस्यका तत्वज्ञान जिसमें संगृहीत हुआ है; विलक्षण अभौतिक शक्तियोंका संकेत जिसमें है; प्राचीन परंपराका रहस्य जिसमें है; सूक्ष्म परंतु अत्यंत आवश्यक गुप्त सूचनाएं जिसमें हैं; अज्ञेय गुप्त ज्ञान जिसमें इकट्ठा हुआ है, विवेक पूर्ण रहस्य जिस अल्प शब्दमें है, जो ज्ञान अभौतिक स्फुरणसे ही प्राप्त हो सकता है अर्थात् केवल तर्कसे जो नहीं ध्यानमें आता, सर्व-साधारण मानवी बुद्धिसे जो नहीं प्राप्त होता परंतु अद्भुत साधनोंसे सुसंस्कृत बुद्धिके द्वारा ही जो व्यक्त होता है; जानबूझकर और विशेष हेतुसे जो गुप्त रखा है; जो विशेष प्रकारका रहस्य विशेष कारण के लिये गुप्त रखा है तथा जो मनुष्यमात्रके अत्यंत हितकी बात है, वह "व्याहृति" है अथवा व्याहृतीमें है ! ! !

व्याहृतिका यह अर्थ देखनेसे ही पता लग जायगा कि इन व्याहृतियोंके तथा इनका इतना महत्व क्यों माना गया है और प्रायः दैनिक धर्म कृत्योंमें व्याहृतियोंका पाठ क्यों किया जाता है । यदि व्याहृतिमें उक्त प्रकारका

भाव है, तो निःसंदेह व्याहृतिका अत्यंत महत्व है। अब पूर्वोक्त सातों व्याहृतियोंमें मुख्यतया किस उपदेशका संग्रह किया है, इसका विचार करेंगे। प्रत्येक व्याहृतिका पूर्ण विचार पीछेसे किया जायगा, परंतु यहां साधारणतया स्वरूप बताना है। इस लिये प्रत्येक व्याहृतिका अर्थ और उससे लेनेका मुख्य बोध क्या है, इसी का यहां संक्षेपसे विचार करेंगे।

(१) भूः।

"भूः" यह पहिली व्याहृति है। यह "भू" शब्द "भू-सत्तायां" इस धातुसे होता है॥ "भू" धातुके अन्य अर्थ (१) शुद्धिचिंतयोः, अवकल्कने (२) मिश्रणे, अवकल्कने (३) प्राप्तौ, ये हैं। (सत्ता) अस्तित्व, (शुद्धि) शुद्धता, (चिंता) विचार, (मिश्रण) संयोग, इकट्ठा करना, (प्राप्ति) स्वीकार ये भाव "भूः" शब्दके धातुमें हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोशोंमें जो इसके भाव दिये हैं वे भी इन अर्थोंके ही भाव हैं, इसलिये यहां देखने योग्य हैं—

(१) सत्ता। (To be, become)=अस्तित्व रखना, होना, बनना।

(२) (To spring, or proceed from, arise) उगना, उत्पन्न होना, ऊपर उठना, चौंक उठना, बढना, उठ बैठना। चलना, आगे बढना, प्रचलित करना, उन्नति करना, जागना।

(३) (To live, exist) जीना, टिकना, बसना, रहना, होना, ठहरना, स्थिति जीवन धारण करना।

(४) (To be alive or living, breath) जीवित रहना, प्राण धारण करना, श्वास लेना।

(५) (To remain) रहना, एक अवस्थामें रहना।

(६) (To serve) काम में आना, उपयुक्त होना।

(७) (To lead, conduce to) चलाना, संचालन देना, अनुकूल होना, सहकारी होना।

(८) (To be on the side of, assist) सहाय्यता करना।

(९) (To be engaged in, be occupied with) कार्य में नियुक्त होना, लगजाना, काम काज में दत्त चित्त होना।

(१०) (To conduct one self, behave) चालचलन करना, आचार व्यवहार योग्य रीतिसे करना।

(११) (To be prosperous, succeed) सफल होना, कृतार्थ होना, सौभाग्य और मंगल प्राप्त करना, जय प्राप्त करना, विजयी होना।

(१२) (To manifest, exhibit) प्रत्यक्षता करना, प्रसिद्धि करना, व्यक्त करना। सामने रख देना, प्रकाशित करना।

(१३) (To foster, cherish, support, preserve) पालना करना, उन्नति साधन करना, आश्रय देना, उन्नतिमें सहाय्यता करना, आधार देना, रक्षण करना।

(१४) चिंता, अवकल्पनं (To think, reflect, consider, imagine) विचार करना, चिंतन करना, सोचना, ख्याल करना।

(१५) (To prove, establish) सिद्ध करना, निश्चित करना, स्थापना करना, दृढ करना।

(१६) शुद्धिः (To purify) शुद्ध करना, निर्मल बनाना।

(१७) प्राप्तिः (To get, obtain) प्राप्त करना।

(१८) मिश्रणं, अवकल्कनं (To mix) मिश्र करना, संघात करना, मिलाना।

(१९) (To transform into) रूप बदलना, आधार बदल देना।

(२०) (To devote oneself to) समर्पित करना।

साधारणतया ये भाव "भू" धातु में है। किसी कोशमें पाठक ये अर्थ भू धातु के आगे देख सकते हैं। संस्कृतमें जो ऊपर अर्थ धातुपाठसे उद्धृत करके दिये हैं, वे "सत्ता, शुद्धि, चिंता, अवकल्पन, मिश्रण, और अवकल्कन, प्राप्ति" ये अर्थ भी इन अंग्रेजी अर्थोंके सूचक ही हैं। तथा प्रर्य भू धातुके अर्थोंके विषयमें संदेह नहीं है। धातुका अर्थ शब्दमें आता ही है, इसलिये ये अर्थ "भूः" इस व्याहृतिमें हैं। इन अर्थोंको

लेकर "भूः" यह व्याहृति कौनसा संदेशा पाठकोंके पास ला रही है इसका अब विचार करना है।

"भूः" का सबसे मुख्य अर्थ सत्ता अर्थात् अस्तित्व है। सब प्रयत्न अपने (Existence) अस्तित्वके लिये होना चाहिये। अपना अस्तित्व स्थिर रखनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। कोई शत्रु हमारा अस्तित्व मिटानेके लिये हमारे ऊपर हमला करेगा, तो उसका प्रतीकार करना चाहिये। अस्तित्व दो प्रकारका है-(१) एक वैयक्तिक अस्तित्व (Individual existence) है और (२) दूसरा सामुदायिक अस्तित्व (Collective existence) है। इन दो जीवनोंमें मनुष्यको कार्य करना होता है। मनुष्य जैसा अपने लिये रहता है वैसाही वह समाज के लिये भी रहता है। संघके विना मनुष्यका जीवन अशक्य ही है। यद्यपि कई लोक स्वेच्छासे अरण्यवास पसंद करते हैं, तथापि उनका अंतिम उद्देश सामुदायिक हित करनाही होता है। साधुसंत जंगलमें जाते हैं, वहां रहकर एकांत सेवन करते हैं, आत्मसाक्षात्कार करते हैं, तत्वज्ञानका अनुभव लेते हैं; और पश्चात् योग्य बनकर संपूर्ण जनताकी उन्नतिके लिये योग्य धर्मकी जागृति करनेके उद्देशसे शुद्ध धर्मका उपदेश करते हैं तात्पर्य एकांत सेवन भी सामुदायिक धर्म के लिये ही होता है। अर्थात् वैयक्तिक अस्तित्व और सामुदायिक अस्तित्व रखनेकी सूचना "भूः" इस व्याहृतिसे सबसे प्रथम मिलती है। वैयक्तिक और सामुदायिक किंवा जातीय अथवा राष्ट्रीय अस्तित्व रखनेका उपदेश सबसे प्रथम यहां मिलता है। पाठक विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें उसी समय आवेगा, कि जो "भू" धातुके अन्य अर्थ ऊपर दिये हैं, वे सब अस्तित्वके सहाय्यक ही हैं।

अस्तित्व कैसा रखा जा सकता है, ऐसा प्रश्न होनेपर उसका उत्तर अन्य अर्थोंमें मिल सकता है। अन्य अर्थोंमें जो गुण हैं उनका विकास करनेसे अस्तित्व रह सकता है।

अस्तित्व रखनेके लिये (१) शुद्धता, निर्मलता, निर्दोषता, (२) चिंतन विचार, सोचना, समझना, (३) मिलकर, संघ बनाकर रहना, मिलना जुलना, मेल मिलाफ करना, (४) अप्राप्त की प्राप्ति करके अपना सार

बढाना, इन गुणोंकी आवश्यकता है। पाठक विचार करेंगे तो उनको इन गुणोंका अपने अस्तित्वके साथ कितना घनिष्ट संबंध है इसका पता लग जायगा। "अस्तित्व, शुद्धता, विचार, एकता और संग्रह" इनका परस्पर अत्यंत निकट संबंध है। शुद्धता, सुविचार, ऐक्य और संग्रह के विना मनुष्यका अस्तित्व हो ही नहीं सकता और यदि हुआ तो मनुष्यके मनुष्यपनको शोभादायक कभी नहीं होगा। यदि किसी मनुष्यका अथवा किसी जातिका अस्तित्व है, और उसमें पवित्रता, सुविचार, ऐक्य और संग्राहक भाव नहीं हैं, परंतु अपवित्रता, कुविचार, झगडा, और असंग्राहकता है, तो उस व्यक्ति अथवा जाति के पास कोई भी जावेगा नहीं, तथा ऐसे मनुष्यको कोई भी अपने पास नहीं करेगा। तात्पर्य मनुष्यके अस्तित्वकी दृष्टिसे यह हीन जीवन है, आदर्श जीवन नहीं है। आदर्श मानवी जीवन वही है कि जो "भूः" इस व्याहृतिद्वारा बताया गया है, अर्थात् **जो मनुष्य अथवा जो राष्ट्र अपना जीवन शुद्धता, सुविचार, एकता और संग्राहकता के साथ व्यतीत करके अपना अस्तित्व रखता है, वही आदर्श जीवन व्यतीत करता है**। यह ज्ञान एक "भूः" व्याहृतिद्वारा प्राप्त हुआ !!! इसके जो अन्य अर्थ हैं उनका विचार करनेसे और भी बहुत ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

अपना वैयक्तिक और सार्वजनिक अस्तित्व रखनेके लिये स्वयंही आगे बढना चाहिये, स्वयं जागना चाहिये और स्वयंही प्रयत्न करना चाहिये। अपना जीवन स्थिर करनेके लिये प्राणवर्धक श्वासोच्छ्वास करना योग्य है तथा नियमपूर्वक प्राणोंका आयाम करनेसे भी बडा लाभ हो सकता है। यदि आगे बढना है, तो पीछे न हटते हुए अपने स्थानपर ठहर कर ही आगे बढनेका यत्न होना चाहिये। जो जो साधन पास होगें उन सबको काममें लाना आवश्यक है, अन्यथा उन्नतिका मार्ग ही बंद होगा। एक दूसरेको सहाययता देते और परस्पर सहाय्य करते हुए सबकी उन्नतिका साधन करना चाहिये। सदा पुरुषार्थके कार्योंमें निमग्न और दत्तचित्त होना उचित है, क्योंकि पुरुषार्थके विना उन्नति नहीं होगी। अपने चालचलन की आ[illegible]ध करना चाहिये, अपना आचार विचार नित्य देखना चाहिये कि वह उन्न-तथा [illegible]साधक है या बाधक हो रहा है। सब प्रयत्न अपने वैयक्तिक और सामुदा-

यिक विजय और अभ्युदयके लिये ही होने चाहिये। अपने अंदर जो शक्तियां हैं उनको विकसित करने का उद्योग होना चाहिये। अपना संरक्षण और चारों प्रकारकी उन्नति करनेका यत्न होना चाहिये। विचारपूर्वक सोच समझकर, ध्यानसे, मनन और योग्य ज्ञानकी अनुकूलताके साथ पुरुषार्थ करना चाहिये। जो ठीक होगा उसको सर्वत्र स्थापित करनेका यत्न करना योग्य है। जो दोष अपनेमें होंगे और समाजमें होंगे उनको दूर करके सदा सर्वदा निर्दोष होनेका प्रयत्न करना चाहिये, जबतक दोष रहेंगे तबतक उन्नति होनी अशक्य है। जो शुभ प्राप्त नहीं हुआ उसको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना हरएकको आवश्यक है। संघमें शक्ति होती है, अनेक पदार्थोंके मिश्रणसे अनेक लाभ हैं इसलिये इस ऐक्यका विचार करना चाहिये। ऐसा महान पुरुषार्थ करना कि उससे अपनी अवस्थाही उच्च और श्रेष्ठ हो जाय अर्थात् बदल जाय। उक्त सब प्रकारके कर्तव्योंमेंसे जो जो पुरुषार्थ अपनेसे हो सकता है, उसको करनेमें अपने आपको समर्पित करना, तात्पर्य अपना वैयक्तिक और सामुदायिक अस्तित्व रखते हुए अपना अभ्युदय और उत्कर्षका साधन करनेका उपदेश यह "भूः" व्याहृति दे रही है पूर्वोक्त सब अर्थोंकी इस प्रकार संगति है। इससेभी अधिक भाव उक्त अर्थोंमें हैं। जो पाठक विचार करेंगे, वे स्वयं जान सकते हैं। अब दूसरी व्याहृति का विचार करेंगे—

(२) भुवः।

"भू" धातुका ही यह रूप है, इसलिये पूर्वोक्त अर्थ इसमें विद्यमान हैं। परंतु इसमें शुद्धि, चिंतन और मिश्रण ये भाव विशेष हैं। "भावयतीति भुवः।" शुद्धता पूर्वक सुविचार और ऐक्य करनेका भाव इसमें प्रधान है। "भावना" की प्रधानता इसमें है और कर्मकी प्रधानता पूर्व व्याहृतिमें है। "हृदयकी भावना" का संबंध इसमें विशेष है और काया वाचा मन के कर्मोंका संबंध पूर्व व्याहृतिसे है। "भू" व्याहृति का पृथ्वीके साथ अर्थात् स्थूल से संबंध है, और "भुवः" का अंतरिक्ष अर्थात् सूक्ष्मके साथ संबंध है। भूः से स्थूल शरीर और स्थूल इं[illegible] बताये जाते हैं, और भुवः से अंतःकरण और सूक्ष्म भावना का होता है। तात्पर्य यद्यपि "भूः" का धातुही "भुवः" में है, तथापि

शब्दसे व्यक्त होनेवाले गुणोंका संबंध स्थूल क्षेत्रमें आयेगा और दूसरे शब्दसे व्यक्त होनेवाले गुणोंका संबंध सूक्ष्म क्षेत्र में आवेगा। कोई यहां यह न समझे कि स्थूल की उन्नति होने से ही सब कार्य होगा; परंतु उसको सूक्ष्म शक्तियोंका विकास करना आवश्यकही है, यह बताने के लिये इस "भुवः" व्याहृतिकी योजना है। स्थूलशरीर और इंद्रियोंकी कितनी भी उन्नति हुई, तौभी कृतकार्यता नहीं होगी; जबतक अंतःकरणके सूक्ष्म-भाव शुद्ध और उन्नत न होंगे। यद्यपि दोनों व्याहृतियोंसे बोधित होनेवाले गुण समानही हैं; तथापि उनके कार्यक्षेत्रमें इस प्रकार भेद है। इसका विचार करके ही यहां बोध लेना चाहिये। अस्तित्व, शुद्धता, सुविचार, एकता और संग्राहकता इनका संबंध हृदयकी भावना के साथ यहां जोडना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त उपदेश हृदयके स्वभावमें एकरूप होना चाहिये, अन्यथा कृतकारिता नहीं हो सकती। जिसके अंतःकरणमें पवित्रता है वही बाहेरभी पवित्र रहता है, जिसके हृदयके भाव शुद्ध होते हैं वह बाह्य आचरणमें भी शुद्ध रहता है, जिसके आंतरिक भावनामें विरोधीभाव नहीं है उससे ऐक्यका प्रवाह ही चलता रहेगा, इसी प्रकार संपूर्ण गुणोंके विषयमें समझना उचित है। तात्पर्य भुवः शब्दसे अंतःकरणकी उच्चता अथवा ज्ञानमय भावनाकी पवित्रता बताई जाती है। पूर्वोक्त अर्थोंके साथ ही पाठक इस भावनाका विचार करें और योग्य बोध लें। यहां फिर पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब तीसरी व्याहृति का अर्थ देखेंगे—

(३) स्वः।

"स्वः, स्वर्, सुवर्, सुवर्ग" इस प्रकार इस शब्दका संबंध ब्राह्मण ग्रंथकारोंनें लगाया है। "सु-वर्ग लोक" अर्थात् जो उत्तम वर्गके रहनेका स्थान है, वहां अपना प्रवेश करना चाहिये। जहां हीन वर्गके रहने और विचरनेका स्थान है, वहां नहीं रहना चाहिये। हीन स्थितिसे उच्च स्थिति में पहुंचनेका उपदेश इस शब्दसे विदित होता है।

"स्वर्" शब्दका अर्थ "तेज, प्रकाश, ज्ञान, आत्मत्व" भी होता है। ये अर्थ सूचित करते हैं कि मनुष्यको अंधकारसे प्रकाशमें आना है, अज्ञानसे ज्ञान में आना है, परतंत्रतासे स्वातंत्र्य प्राप्त करना है। मनुष्यके ध्येयके ... उपदेश इस व्याहृतिसे मिलता है। प्रकाश, ज्ञान, आत्मीयता

किंवा स्वातंत्र्य आदि शब्द शुद्ध आनंदकी अवस्था बता रहे हैं । जो अनुष्ठान "भूः और भुवः" इन दो व्याहृतियोंद्वारा क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म क्षेत्रोंमें सूचित किया था, उसका अंतिम साध्य "स्वः" व्याहृतिद्वारा बताया है । प्रकाशमय, ज्ञानपूर्ण, स्वतंत्रतारूप आनंदकारक सु-वर्गकी स्थिति हमारा ध्येय और प्राप्तव्य है और उसका साधन स्थूल शरीर, इंद्रिय, और अंतःकरणादिद्वारा पूर्वोक्त प्रकार करना चाहिये ।

केवल तीन शब्दोंद्वारा इतना उपदेश हमें प्राप्त हुआ । इन तीन व्याहृतियोंको "महाव्याहृति" अर्थात् बडे सांकेतिक शब्द कहा जाता है । यदि अन्य व्याहृतियां ध्यानमें रहीं या न रहीं; तो केवल इन तीनही शब्दोंसे जो उपदेश मिल रहा है, उसके अनुकूल आचरण करनेसे मनुष्यका बेडा पार हो जायगा ! ! उक्त तीन व्याहृतियोंके उपदेशोंका पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मानवी उन्नतिके सर्व साधारण तत्त्व पूर्णरूपसे उनमें आचुके हैं । इसी लिये ये "महाव्याहृतियां" हैं । और इनका महत्त्व सबसे अधिक है ।

(१) अपना अस्तित्व रखो, (२) ज्ञान प्राप्त करो और (३) उत्तम वर्गमें प्रविष्ट हो जाओ ! ये तीन मुख्य भाव तीन महाव्याहृतियोंसे प्राप्त हुए हैं, जो अन्यभाव हैं वे पूर्वस्थलमें बतायेही हैं । अब चतुर्थ व्याहृतिका विचार देखिये—

(४) महः ।

"महः" का अर्थ—(Greatness) महत्त्व, महिमा, बडापन; (Power) शक्ति, बल, ओज; (Abundance) विपुलता, अधिकता, प्रचुरता, बहुतायत; (light, lustre) प्रकाश, तेज, (offering, sacrifice) यज्ञ, दान, त्याग, स्वार्थत्याग, परोपकार; (Pleasure) सुख, आनंद, (Enjoyment) भोग, उपभोग; (Festival) उत्सव, मंगल, आनंद, तेवार; (Water) जल, जीवन । इसका तात्पर्य यह है—

शक्ति प्राप्त करना चाहिये, हरएक बातकी अपनेपास विपुलता और अधिकता करके उसका दान सर्वोपयोगी शुभकर्मोंमें करना योग्य है। तेज, प्रकाश, सुख, आनंद, उत्सव, मंगल प्रसंग आदि की यथा प्राप्ति करके पूर्ण रीतीसे श्रेष्ठ महत्वको प्राप्त करनेकी सूचना यह व्याहृति

दे रही है । अपना वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्व स्थिर रखनेके लिये ज्ञान प्राप्त करना और उत्तम वर्गमें अपनी गिनती होनेके पश्चात् सबसे श्रेष्ठ महत्व को प्राप्त करना चाहिये । चार व्याहृतियोंका इस प्रकार परस्पर संबंध है । तात्पर्य इन चार व्याहृतियोंने संक्षेपसे (१) अस्तित्व, (२) ज्ञान (३) आत्मीयता, (४) और महत्व ये चार भाव हमारे सामने रखे हैं । अब पांचवी व्याहृति का विचार कीजिये ।

(५) जनः ।

इस शब्दके मुख्य तीन अर्थ हैं (१) मनुष्य, (२) जनता, जनसमाज और (३) प्रजननशक्तिसे युक्त रहना । व्यक्ति और समाज का अथवा व्यष्टिसमष्टिका विचार करके हरएक को अपने व्यापार करने उचित हैं । व्यक्तिके व्यवहारसे समाजका घात न हो और समाजके व्यवहारसे व्यक्तिको प्रतिबंध न हो, परंतु दोनोंके व्यवहार उत्तम रीतिसे और परस्पर एकमतसे चलकर, सबकी उन्नति सिद्ध हो सके, यह उद्देश धर्मका है । मनुष्य और जनताके संबंध का विचार करनेसे उक्त विषयका उपदेश प्राप्त होता है ।

दूसरी बात इस शब्दसे जो ज्ञात होती है, वह "सुजनि शास्त्र" विषयक है । प्रजाका तंतु टूटना नहीं चाहिये, इसलिये अपने अंदर सुप्रजा जननशक्ति बढानी चाहिये । अपने वैयाक्तिक और सार्वजनिक अस्तित्व के लिये ज्ञान, आत्मीयता और महत्व पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पश्चात् सुप्रजाजनन करना चाहिये । सुप्रजा जनन न हुआ तो जातीय और वैयक्तिक अस्तित्वही नष्ट होगा । इस लिये इस व्याहृतिद्वारा एक अत्यंत महत्व पूर्ण श्रेष्ठ बातका उपदेश किया है । सब पाठक इसका विचार करें । अब छठी व्याहृति का अर्थ देखेंगे—

(६) तपः ।

"तपः" का अर्थ–(१) तपना, (२) सत्कर्म करनेके समय जो कष्ट सहन करने होंगे उनको आनंदसे सहन करना, (३) ध्यान करना, (४) सदाचारसे व्यवहार करना, (५) विशेष कर्तव्य दक्षतासे करना ।

श्रेष्ठत्व प्राप्त करनेके लिये तपनेकी आवश्यकता है । सुवर्ण अग्निमें तपता है तभी शुद्ध होकर मूल्यवान बनता है । सब श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ कर्म

करनेके कारण पूज्य बने हैं । और कष्ट भोगनेके विना श्रेष्ठ पुरुषार्थी होही नहीं सकते । इसलिये महत्त्वको प्राप्त करनेके लिये तपकी आवश्यकता है । सत्कर्म करनेके समय विरोधियोंसे अनेक क्लेश होते हैं, उनको आनंदसे सहन करने और अपना सत्कार्य करते हुए आगे बढनेका नाम तप है । पूर्व व्याहृतियोंसे जो मार्ग बताया जा चुका है, वह सब तपकाही मार्ग है । तप न हुआ तो उसका आक्रमण हो ही नहीं सकता । इतना तपका महत्त्व है । अब अंतिम व्याहृति का विचार करेंगे—

(७) सत्यं ।

सत्य, सचाई, सत्यनिष्ठा, सत्यका आग्रह, निश्चयसे सत्यका पालन करना चाहिये । सत्य न हुआ तो पिछला संपूर्ण उपदेश व्यर्थ ही होगा । सत्यकी भूमिपर तपकी सहायतासेही पंच व्याहृतियोंका अनुष्ठान हो सकता है । सत्यके अभावमें किसी प्रकार सिद्धी प्राप्त होनी असंभव है । इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकताही नहीं है, क्यों कि सत्यकी महिमा सभी जानते हैं ।

इस प्रकार सात व्याहृतियों द्वारा यह उपदेश दिया है । सात व्याहृतियोंसे जिस "रहस्य पूर्ण उपदेश" का ज्ञान होता है, उसका संक्षेपसे यह वर्णन है । इसका अधिक विचार करनेपर पाठक इस उपदेशका महत्त्व और सात व्याहृतियोंके संकेतकी अपूर्वता जान सकते हैं ।

लोग कहते हैं, कि संपूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेके लिये समय नहीं है । उनके लिये कहा जासकता है, कि यदि उनके पास इतना समय नहीं है, तो वे केवल सात व्याहृतियोंकाही मनन करें । अथवा इतनाभी नहीं हो सकता, तो केवल पहिले तीन महाव्याहृतियोंकाही निरंतर विचार करें । ये सांकेतिक महत्त्व पूर्ण शब्द हैं और इनके तत्वज्ञानका विचार करते करते मनुष्य चकित हो सकता है, इतने महत्त्व पूर्ण भाव इन छोटेसे शब्दोंमें गुप्ततासे रखे हैं । आशा है कि पाठक इन सात शब्दोंके गूढार्थका विचार करके वैदिक धर्मके रहस्यका पता लगायेंगे और उनसे सूचित उपदेशोंके अनुसार आचरण करके श्रेष्ठ बनेंगे ।

अभ्युदय और निःश्रेयस।

(१) विषयका संकेत।

अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि जिससे होती है, उसका नाम धर्म है। ये धर्मके दो फल हैं। इस लिये धार्मिक मनुष्यको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि, अभ्युदय और निःश्रेयस का तात्पर्य क्या है? साधारण लोक समझते हैं कि अभ्युदय का संबंध सांसारिक उन्नतिसे है और निःश्रेयस का संबंध मोक्षसे है; किसी अंशमें यह कहना सत्य है, परंतु सांसारिक उन्नति क्या है और मोक्ष क्या है, इसका भी तो निश्चय होना चाहिये। प्रायः लोग इन शब्दोंका प्रयोग करते जाते हैं, परंतु उनके मनमें निश्चयात्मक कल्पना कुछभी नहीं होती।

वैदिक धर्मके जो शब्द हैं, उनसे व्यक्त होनेवाली निश्चयात्मक कल्पना जाननेके बादही उनका हृदय जाना जासकता है। वेदमें कहा है कि शब्द-का वीर्य लेना चाहिये। जबतक शब्दका असली निश्चित भाव जाना नहीं जायगा, तबतक शब्दोंके प्रयोगसे कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। इसलिये इस लेखमें अभ्युदय और निःश्रेयस का मुख्य तात्पर्य क्या है, इस बातका निश्चय करना है।

(२) अभ्युदयका भाव।

"अभ्युदय" शब्दका अर्थ (अभि+उत्+अय) सब प्रकारसे उच्चताकी ओर जाना है—

अभि=सब प्रकारसे
उत्=उच्चता, ऊपरकी अवस्थाको
सा… अय=जाना, प्राप्त करना

तथा …च्चता प्राप्त करनेके जितने साधन हैं, उन सब साधनोंका यथायोग्य …ग करके अपनी अवस्था अधिक उच्च बनानेका भाव "अभ्युदय"

शब्दसे व्यक्त होता है। अभ्युदयमें "उदय" शब्द है; सूर्यका उदय होता है, तथा चंद्र और अन्य नक्षत्र भी उदयको प्राप्त होते हैं। यह उनका अभ्युद-यही है। उदय होनेके पूर्व वे निम्न अवस्थामें थे, उदय होनेकी अवस्थामें उनकी उच्च गति होगयी है। सूर्योदयके पूर्व सर्वत्र अंधेरा था, प्रकाश नहीं था, यह तमोमय अवस्था है; इससे निवृत्त होने के लिये सूर्यकी उच्च गति होनेकी आवश्यकता है। जब सूर्यका उदय हो जाता है, तब अज्ञानांधकार दूर हो जाता है, और पूर्ण प्रकाश होनेके बाद पूर्ण सात्विक समय आजाता है। मानवी उन्नतिमें भी ये अवस्थायें हैं। पहिली अज्ञानावस्था होती है, यह तमोगुणी अवस्था है। अज्ञानके कारण सब प्रकारके प्रतिबंध उत्पन्न होते हैं, येही बंध, कष्ट और दुःख हैं। वैयक्तिक क्या, और सामाजिक क्या, सब बंधनोंका मूल कारण अज्ञान ही है, यही तमोगुणकी अवस्था है। इसके पश्चात् मनुष्यमें भोग प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है, मैं सुख प्राप्त करूंगा, यह प्रवृत्ति रजोगुण की द्योतक है। इस गुणके कारण वह प्रयत्न करता है और अपनी अवस्था सुधरता है। इस रजोगुणमें अपने भोग बढानेके लिये दूसरोंपर कुठार चलानेकी घातक प्रवृत्ति बढती है। इसके कारण अनेक युद्ध होते हैं और दूसरोंके रक्तोंसे भरेहुए भोग भोगने पडते हैं !! मनुष्य इससे फिर दुखी होता है और उसके मनमें "समता" का भाव आता है। यही सात्विक भावना है। यही सच्चा ज्ञान है और इससे उसकी श्रेष्ठ प्रवृत्ति होती है। अब वह अंधकारसे दूर होकर प्रकाशमें आगया है। क्रमशः मनुष्यको इन अवस्थाओंमेंसे गुजरना होता है, यही उसका उदय है। और सबप्रकारसे उदय होनेपर उसीका नाम "अभ्युदय" हो जाता है।

(३) निःश्रेयसका तात्पर्य।

अब "निःश्रेयस" का भाव देखना है। 'अत्यंत प्रशंसित' यह इसका मूल शब्दार्थ है—

निः=पूर्णरूपसे

श्रेयस=प्रशंसित, कल्याण।

जिससे और अधिक श्रेष्ठ अवस्था नहीं है उसका नाम निःश्रेयस सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण कल्याणमय जो स्थिति उसीका यह नाम है।

अभ्युदय और निःश्रेयस शब्दोंके ये अर्थ देखनेसे ऐसा स्पष्ट विदित होता है कि, इनमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत ये एक दूसरेके साधक ही हैं। "अभ्युदय" शब्द मनुष्यका बाह्य पदार्थोंके साथ संबंध रखता है, और "निःश्रेयस" शब्द आंतरिक शक्तियोंके साथ संबंध रखता है। यह बात जाननेसे उक्त शब्दोंसे व्यक्त होनेवाली कल्पना स्पष्ट रीतिसे ध्यानमें आसकती है। इसीका अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिये मनुष्यकी आंतरिक शक्तियां कितनी हैं, और मनुष्यके बाहिर कितने पदार्थ हैं, इसका अब विचार करेंगे।

(४) मनुष्यकी आंतरिक शक्तियाँ।

मनुष्यके अंदर आत्मा, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, ज्ञान और कर्म इंद्रियोंके केंद्र, तथा स्थूल शरीरके स्थूल और सूक्ष्म अवयवोंकी विविध शक्तियां हैं। आत्माके आश्रयसे सब अन्य पदार्थ और उसकी शक्तियां रहती हैं, इसी कारण इन सब शक्तिसमूह को "अध्यात्म" कहते हैं। "अध्यात्म (अधि+आत्मा) शब्दसे आत्माके आश्रयसे जो कुछ है" वह बोधित होता है।

अधि=ऊपर
आत्मा=आत्मा (के)

आत्माके जो ऊपर है, अर्थात् आत्माके आश्रयसे जो कुछ है, वह अध्यात्म है, उसका विचार करनेका नामही अध्यात्म विचार है।

आत्मनः संबद्धं
आत्मनि अधिकृतं
आत्मानं अधिकृत्य
वर्तते तत्
} =अध्यात्मं।

आत्माके संबंधमें, आत्माके अंदर रहनेवाला, आत्माके अधिष्ठातृत्वमें जो रहता है, उसका नाम "अध्यात्म" है। अर्थात् मनुष्यके अंदर जो आत्मा है, उसके आधारसे जो मन बुद्धि चित्त अहंकार ये आंतरिक इंद्रिय, तथा बाह्य ज्ञान और कर्मेंद्रिय और अन्य अवयव तथा उनकी सब

शक्तियां "अध्यात्म" शब्दसे बोधित होती हैं। इन शक्तियोंका विचार करनेका नाम "अध्यात्मविचार" है। इनका ज्ञान ही "अध्यात्म ज्ञान" है।

निःश्रेयस अध्यात्मके साथही जुडा हुआ है। अर्थात् अध्यात्मज्ञानसे जो अंतिम साध्य है वह निःश्रेयस ही है। अध्यात्मशास्त्र उस मार्गका उपदेश दे रहा है कि जो मार्ग निःश्रेयसको पहुंचाता है। अध्यात्मका विस्तृत वर्णन किसी अन्य प्रसंगमें किया जायगा, यहां जितना ऊपर कहा है उतनाही तात्पर्य प्रस्तुत विचार करनेके लिये पर्याप्त है। वह तात्पर्य अथवा भाव ध्यान में धारण करनेसे "निःश्रेयस" का ठीक ठीक स्वरूप ध्यानमें आसकता है।

(५) योगसाधनका संबंध।

आत्माकी शक्ति मन बुद्धि आदि संपूर्ण इंद्रियों और अंगोंमें कार्य कर रही है। इसका अनुभव करना और अपने शरीरके रोमरोम में आत्माके कार्यका अनुभव देखनेका नाम अध्यात्म विचार है। इस विचारसे अपनी संपूर्ण शक्तियोंका शाब्दिक ज्ञान होता है। इस शाब्दिक ज्ञानको अनुभवके क्षेत्रमें परिवर्तित करनेके लिये ही "योगशास्त्र" है। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका अनुभव और उनकी वृद्धि करनेका मार्ग योगाभ्याससे सुगम हो जाता है। इसीलिये निःश्रेयस, अध्यात्म और योगका निकट संबन्ध है ऐसा कहते हैं।

आत्माकी शक्ति कैसी है, बुद्धिमें ज्ञान कैसा रहता है, मन किस प्रकार मनन करता है और अन्य इंद्रियोंपर किस रीतिसे प्रभाव डाल रहा है, चिंतनका कार्य चित्तके द्वारा कैसा होता है, मनुष्यके मनुष्यत्वमें अहंकारका कितना महत्व है और यह बाधक क्यों होता है तथा सहायक कैसा बनाया जा सकता है, पांच ज्ञानेंद्रियां कैसा काम कर रहीं हैं, पंच कर्मेंदियोंसे कैसा कार्य हो रहा है, शरीरके अन्य अंग और अवयव कैसा कार्य कर रहे हैं, इन सबका परस्पर क्या संबंध है, इन सब शक्तियोंका विकास किस रीतिसे किया जा सकता है, इन सब बातोंका विचार करना हरएक मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। आत्मासे लेकर स्थूल शरीरतक इतने केंद्र हैं और उस प्रत्येक में इतनी शक्तियां हैं कि उन सबका...

इस छोटेसे लेखमें अशक्य है। इतनीं अनंत शक्तियां मनुष्यके शरीरमें रहतीं हैं, तथापि मनुष्य अपने आपको निर्बल ही समझता है!!! इसका कारण इतनाही है कि अध्यात्म ज्ञानही उसको हुआ नहीं है। जिस समय अध्यात्मज्ञान उसको हो जायगा, उस समय वह कदापि अपने आपको निर्बल नहीं कहेगा। अपनी शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् योगशास्त्रके अनुष्ठानसे उन शक्तियोंका विकास करना है। जब इन शक्तियोंका पूर्ण विकास होगा, उस समय उसको निःश्रेयस प्राप्त होगा। व्यक्तिकी शक्तियोंकी परम उन्नतिका नाम ही निःश्रेयस है।

(६) बीज का विस्तार।

हरएक मनुष्यके आत्मामें बीजरूपसे अनेक शक्तियां हैं, बीजरूप होनेके कारण शक्तियोंका प्रमाण अल्प है, परंतु उसमें बढनेकी शक्ति अमर्याद है अर्थात् प्रत्येक शक्ति कहांतक बढ सकती है, इसकी कोई मर्यादा इस समय तक किसीने निश्चित नहीं की है। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये। लकडीयोंको जलानेवाले बडे अग्नि की छोटी छोटी चिनगारियां अनेक होतीं हैं। प्रत्येक चिनगारी अत्यंत छोटी होती है और उसकी दाहक शक्ति अत्यंत अल्प होती हैं, तथापि प्रत्येक चिनगारी में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर बडे विशाल अग्निरूपमें परिवर्तित होनेकी संपूर्ण शक्ति बीजरूप से होती है। अर्थात् यदि छोटीसी चिनगारी सूखे घांस में पडी और अनुकूल वायु मिला, तो जगत्को जलानेवाला दावानल भी उसीसे बन सकता है। इसी प्रकार मनुष्यकी आत्मामें जो जो अनेक शक्तियां हैं, उनमेंसे प्रत्येक शक्ति अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर अमर्याद बढ सकती है, अथवा यों कहिये कि कितनी बढ सकती है, इसकी कोई सीमा इस समयतक निश्चित नहीं हुई है। यद्यपि चिनगारीकी दृष्टिसे हमारी शक्ति अत्यंत अल्प है, तथापि विकास होनेकी दृष्टिसे हमारी शक्ति बहुत ही बढनेवाली है।

(७) दुःखका मूलकारण।

शक्ति अल्प होनेके कारण जो प्रतिबंध होता है वही दुःखका हेतु है। समझ लीजिये कि किसीकी बुद्धि अथवा मन असंस्कृत और अविकसित है, तो उसको जगत् में कष्ट होना स्वाभाविक है। मनकी शक्ति बढ

जानेसे वह प्रतिबंध हट जायगा और उस क्षेत्रमें उतना कष्ट नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य संपूर्ण शक्तियोंके विषयमें जान सकते हैं। मनुष्यके आत्मामें जो बीजरूप शक्तियां हैं, उनका विकास जबतक नहीं होगा, तबतक मनुष्य बंधनमें रहेगाही। इसी लिये योग साधन के अनुष्ठानसे अपनी शक्तियोंका विकास करके उनकी स्वाधीनता संपादन करनेके लिये हरएकको यत्न करना चाहिये। इस आत्यंतिक शक्ति-विकासका नाम ही निःश्रेयस है और यही मोक्ष, मुक्ति अथवा बंधन निवृत्ति है।

यहां विचार करके हरएक जान सकता है, कि अपनी शक्तियां विकसित न होनेके कारण ही सब प्रकारके क्लेश होते हैं। तथा जो शक्ति अपने अंदर विकसित होती है, उतने कार्य क्षेत्रमें कोई क्लेश नहीं होते; इस अनुभवके सहारेसे अन्य विकास क्षेत्रका ज्ञानभी विचारसे पाठक प्राप्त कर सकते हैं और आत्मिक शक्ति विकासके साथ मुक्तिका संबंध जान सकते हैं।

यही निःश्रेयस का मार्ग है अर्थात् यह योग साधन से ही साध्य है। "जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति" ये मुक्तिके भेद हैं, और इनका विचार स्वतंत्र निबंधमें करना है। सामान्यतः यहां इतनाही बताना है कि आत्मशक्तिके प्रतिबंधोंको दूर करने, अपनी पूर्ण शक्तिका अनुभव प्राप्त करने, अपनी ही आत्मशक्ति किस प्रकार बुद्धि आदि क्षेत्रोंमें कार्य कर रही है इसका अनुभव देखकर अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास करने, तथा अपनी शक्तिका अनुभव करनेका नाम ही मुक्ति है और यही निःश्रेयस है यह धर्मका एक अंग है। अब दूसरे अंगका विचार करेंगे—

(८) अभ्युदयकी व्याप्ति।

धर्मका दूसरा अंग "अभ्युदय" है। जैसा निःश्रेयस का संबंध मनुष्यकी आंतरिक शक्तियोंके साथ है, उसीप्रकार अभ्युदयका संबंध मनुष्यके बाहिर जो जो पदार्थ हैं उनसे है। मनुष्यका एक शरीर छोड कर जो अन्य सृष्टि है, उसके यच्चयावत् पदार्थोंके साथ अभ्युदयका संबंध है। निःश्रेयसमें एक व्यक्तिके आंतरिक शक्तियोंका विकास है; परंतु अभ्युदयमें उसके सामुदायिक जीवनका संबंध है। एक एक मनुष्य व्यक्तिका संबंध

कुटुंब, परिवार, जाति, गोत्र, ग्राम, प्रांत, देश, देशदेशांतर, पशुपक्षी, वृक्ष, वनस्पती, स्थावर पदार्थ, तथा सूर्यचंद्रादि लोकलोकांतर आदिसे आता है। इनके साथ यथायोग्य व्यवहार करने और बाह्य साधनोंकी अनुकूलता संपादन करनेका नाम अभ्युदय है। इनका विचार स्मृति अथवा आचार शास्त्रमें किया है तथा अन्य सब शास्त्रोंका भी इस जीवनके साथ संबंध आता है।

जैसा पवित्र अन्न सिद्ध करके उसका सेवन करना, पवित्र और निर्मल उदक पीना, शुद्ध वायुका सेवन करना, पवित्र और रम्य मंदिरमें रहना, आस पास उत्तम मनोरम उद्यानकी रचना और शहरकी साफसफाई उत्तम प्रकारसे करके सबका उत्कृष्ट आरोग्य रक्षण करना, जाति जातिके विरोध हटाकर उनमें प्रेमका संबंध बढाना, स्वदेशको स्वतंत्र और स्वायत्त करके उससे द्वारा सब दुखी देशोंको स्वतंत्र करनेमें सहायता करना, नानाप्रकारके यंत्रोंकी रचना करना और विविध सुखोंके साधन एकत्रित करने इत्यादि संपूर्ण बातें "अभ्युदय" विषयक हैं। जगत् के संपूर्ण पदार्थों को अपने अपने अनुकूल बनानेका कार्य इसमें होता है, इसलिये इसके कार्यक्षेत्र का भी अपार विस्तार है। जगत् में अनंत पदार्थ हैं और अनंत रीतिसे उनका सदुपयोग होसकता है और मनुष्यमात्र का सुख बढ सकता है। इसलिये अभ्युदयमें जिन विद्याओंका संबंध है उनका केवल नाम लिखना भी असंभव है। वनस्पतिशास्त्रमें अनेक सूक्ष्मभेद हैं और उनसे खनिज शास्त्रमें कोई कम भेद नहीं हैं। इसी प्रकार अन्य सेंकडों विद्यायें हैं। यद्यपि १४ विद्या और ६४ कलाओंमें उनका अंतर्भाव होना संभव है तथापि उनका अंतर्भाव करनेसे उनका विस्तार कम नहीं हो सकता।

(९) ऋषिमुनियोंका कार्य।

ऋषि और मुनि एक एक विद्याकी खोज पूर्ण स्वतंत्रताके साथ करते थे और उन्होंने अनंत परिश्रम करके इतने शास्त्र निर्माण किये हैं कि उन सबका अध्ययन करना हमारे लिये एक असंभव बात है। इतनी विद्याएं उत्पन्न हुई हैं तथापि विद्याका क्षेत्र समाप्त नहीं हुआ। हजारों और लाखों आदमी भी इस समय परिश्रम करेंगे तो भी उन विद्यायोंकी समाप्ति

नहीं होनी है, इतनी ज्ञानकी अमर्याद सीमा है। ऋषिमुनियोंका अभिमान धारण करनेवालों को चाहिए कि एक एक विद्याके लिये अपने आपको समर्पित करके, जिस मर्यादा तक ऋषिमुनियोंने छोडा है, उसके आगे बढें और अधिक खोज करके नवीन बातोंका आविष्कार करें। पिछले आदमियोंकी गलतियों का ही जप न करते हुए, और किसीके भी "लकीरके फकीर" न बनते हुए, स्वतंत्रतापूर्वक सोचें, विचारें, नवीन बातें निकालें और अभ्युदयके मार्गको दूसरोंके लिये साफ करें।

(१०) सावधानी के लिये एक सूचना।

यह सब अभ्युदयका कार्य क्षेत्र है। इसमें सांसारिक और व्यावहारिक सब उन्नति आती है और निःश्रेयस में सब प्रकारकी आत्मिक उन्नति आती है। ये दोनों उन्नतियां मिलकर धर्म पूर्ण होता है। इसमेंसे किसी की ओर ध्यान न दिया जायगा, तो उतनी न्यूनता रहेगी। यहां कई कह सकते हैं कि हमें सांसारिक उन्नतिके साथ क्या करना है? हम केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नतिसेही संतुष्ट रहेंगे। ऐसा कई लोग कहते हैं और करतेभी हैं, परंतु यह सब भ्रांतिकी कल्पनाही है, वेदने इसीलिये सावधानीकी सूचना दी है, देखिये—

अंध-तमः प्र-विशंति ये अविद्यामुपासते ॥
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ १२ ॥
अन्यदेवाऽऽहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ॥
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥
विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ॥
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

वा. य ४०। १२–१४; ईश. ९–१२

"जो (अविद्यां) केवल प्रकृति विद्या की भक्ति करते हैं उनकी हीन अवस्था होती है; तथा जो केवल (विद्यायां) आत्मविद्यामें रमते हैं उनकी भी उससे बुरी गति होती है ॥ आत्मविद्याका फल अन्य है और प्रकृति-विद्याका फल भिन्न है ऐसा धीर पुरुष कहते आये हैं ॥ आत्मविद्या और

प्रकृति विद्याको एक दूसरेके साथ रहनेपर ही जो लाभदायक मानते हैं, वे प्रकृतिविद्यासे मृत्युको दूर करके आत्मविद्यासे अमर होते हैं।"

यहां का "विद्या" शब्द आत्मविद्या अर्थात् निःश्रेयसकी विद्याका सूचक है, और तद्भिन्न अभ्युदयकी विद्याका सूचक "अविद्या" शब्द है। केवल एक एक विद्यामें ही जो रमते हैं उनकी अवस्था हीन होती है। एक एक विद्यामें रमनेका तात्पर्य यह है कि एकमें ही परिश्रम करना और दूसरीकी ओर ध्यान न देना है। वेदका तात्पर्य यह स्पष्ट है कि दोनोंकी सम उन्नति होनी चाहिये। पाठकभी विचार और अनुभवकी दृष्टिसे सोच सकते हैं कि वेदका कथन कैसा ठीक है। जो केवल प्राकृतिक विद्याकी ही उपासना करते हैं और आत्मविद्याका विचार नहीं करते, उनको आत्मिक शांति मिलना असंभव है, तथा उनके प्रयत्नसे जनतामें भी अशांति ही बढेगी; तथा जो केवल आत्मविद्यामें ही रमेंगे और भौतिक विद्याका ख्याल बिलकुल छोड देंगे, उनको तो पेटका गुजारा चलाना भी अशक्य हो जायगा, और पेटकी फिक्र बढनेसे उनको आत्मिक शांतिभी प्राप्त नहीं होगी। इसका विशेष विचार पाठक करें और दोनों विद्याओंके समुच्चयका महत्व जानें। जो पाठक अभ्युदयका विचार छोड केवल निःश्रेयस की ही प्राप्ति करनेका उद्योग करना चाहते हैं, वे कैसी बडी भूल करते हैं इसकी यहां ठीक कल्पना हो सकती है।

भौतिक उन्नतिमें इंद्रियोंके सुख बढनेके कारण इंद्रिय विषयक सुखोंका प्रलोभन है, तथा आत्मिक उन्नतिमें मनकी असाधारण शांति होनेका बडा भारी प्रभोलन है, किसीभी प्रलोभनमें फंसनेसे हानी होगी। इसलिये करना यह चाहिये कि अभ्युदय विषयक और निःश्रेयस विषयक अर्थात् दोनों ओरकी उन्नतिके प्रयत्न होने चाहिये। तभी धर्मका ठीक पालन होगा। अन्य विषमता उत्पन्न होनेसे धर्मका पालन न्यून होनेके कारण कई अंशोंमें कष्ट ही होंगे। कष्ट न्यून करनेके लिये दोनों विद्याओंकी समान शिक्षा तथा दोनों ओरके समान प्रयत्न होने योग्य हैं।

"अभ्युदय और निःश्रेयस रूप धर्म है" ऐसा कहनेमें ऋषि मुनियोंने कितना बडा सिद्धांत हमारे सामने रख दिया है इसका विचार पाठ-

कहीं करें! यह ऋषिऋण है!! इससे मुक्त होनेके लिये एकही उपाय है, और वह यह है कि, इस सिद्धांतको जानें; उसका स्वयं अनुष्ठान करें और उसीका प्रचार करें।

प्रतिदिनके समयविभागमें कुछ घंटे अभ्युदय विषयक योग्य पुरुषार्थ करनेके लिये रखने चाहिए तथा कुछ समय निःश्रेयस के विषयमें प्रगति करनेके लिये नियत करने चाहिये। आशा है कि पाठक इस विषयका महत्व जानकर इस विषयमें उचित विचार करेंगे और विचारके अनुसारही अपना समय विभाग बनायेंगे।

-9029421718

घरमें बैठे बैठे ही जीर्ण होना अच्छा नहीं है।

"कूप-मंडूक" वृत्ति बडी घृणित है। कूएमें नीचे बैठा हुआ मेंडक संपूर्ण जगत् को अपने छोटेसे कूवेके बराबर ही समझता है! परंतु जो ऊपर चढकर पहाडकी चोटीपर पहुंचता है, और खुले वायुमंडलका आनंद लेता हुवा, चारों ओरकी वनश्रीको देखता है, वही जगत्के विस्तारका अनुभव कर सकता है!! कूएमें नीचे गिरनेसे संकुचित दृष्टि बनती है, और पहाडकी चोटीपर चढनेसे दृष्टि विस्तृत हो जाती है। दृष्टिका विकास होनेसे लाभ और संकोच होनेसे हानि है, इसलिये हर-एकको विकासकी ओर ध्यान देना चाहिए न कि संकोचकी ओर।

कोई मनुष्य ऐसे हैं कि जो कहते हैं कि हम अपना गांव छोडकर कभी बाहिर गयेही नहीं!! ऐसा कहनेमें उनको एक प्रकारका महत्त्व प्रतीत होता है! जो दूसरे देशोंमें जाते हैं और पुरुषार्थ करते हैं, अपनी स्थितिका सुधार करते हैं और ज्ञान प्राप्त करके विशेष योग्य बनते हैं, उनकी निंदा करनेके उद्देश्यसे और अपनी प्रशंसा करनेके हेतुसे वे कहते रहते हैं, कि देखो ये लोक कैसे देशदेशमें भ्रमण करते हैं। इतने कष्ट करनेसे लाभ क्या है? हम यहांही अपने घरमें रहे हैं और बडे आनंदमें हैं। मजेमें अपनी चारपायीपर बैठे बैठे अपने इष्टमित्रोंके साथ वार्तालाप करते हुए, परमेश्वरकी दी हुई दालरोटी खा कर आनंदसे कालक्रमणा कर रहे हैं! हम न रेलमें बैठे और न गाडीकी सवारी की है।

ऐसे लोकोंको "कूएके मेंडक" कहा जाता है। जन्मके कारण जिस कूएमें ये लोग गिर जाते हैं, वहांसे ऊपर चढनेमें ये असमर्थ होते हैं। इसीलिये ये ऐसीं बातें बोला करते हैं। वास्तवमें देखा जाय, तो मनुष्य स्वभावतः गतिशील है। वह कदापि एकही स्थानपर रहकर सडेगा नहीं;

दैवके पाशोंको तोडता हुआ, पुरुषार्थकी रोशनीसे उन्नतिके दुर्गपर चढनेवाला यही एक प्राणी परमेश्वरने इस भूमंडलपर बनाया है। इसका उत्तम तत्वज्ञान वेद बता रहा है। वेदमें जो मनुष्यवाचक शब्द हैं, उनका विचार करनेसेही कितनी उच्च भावना और कितनी श्रेष्ठ पुरुषार्थकी कल्पना जागृत हो जाती है, यह भी देखने योग्य है। सबसे प्रथम मनुष्यवाचक "नरः" शब्द देखिये—

"नी=प्रापणे" इस धातुसे "नृ" शब्दकी उत्पत्ति है। "नयंति संसारचक्रं" जो इस संसारके चक्रको चलाते हैं, वे नर होते हैं। जो श्रेष्ठ अवस्थांतरको प्राप्त होते हैं, नीचसे उच्च अवस्थाको पहुंच सकते हैं उनका नाम नर होता है। "नृ=नये" इस से भी "नर" शब्दकी उत्पत्ति मानते हैं, इस लिये उसकाभी अर्थ "दूसरोंको सहारा देकर आगे ले जानेवाला" ऐसा होता है। तात्पर्य किसी प्रकार आप अर्थ देखिये, इसमें स्थानांतर और देशांतर करनेका भाव अवश्य है। मनुष्यका स्वभाव ही यह है। इसी भावसे वेदमें नर शब्दका प्रयोग देखिये—

तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तो महो राये चितयन्तो अनुग्मन् ॥
ऋ. ६।१।२

(देवयंतः नरः) देवता बननेकी इच्छा करनेवाले प्रगतिशील मनुष्य सबसे प्रथम तेरा चिंतन करते हुए (राये) बडे ऐश्वर्यके लिये (अनुग्मन्) तेरे अनुकूल चलते हैं।

(१) देवता बननेका प्रयत्न करना, (२) परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करना, और (३) बडा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये योग्य पुरुषार्थ करते हुए आगे बढना, ये गुण "नर" के हैं; ऐसा इस मंत्रसे व्यक्त होता है। जो नर होंगे, वे कभी चुप नहीं बैठेंगे; क्योंकि उनमें "धन शक्ति" (Positive force) विद्यमान होता है। जिनके अंदर इस प्रकारकी शक्ति होती है और जो प्रगतिशील होते हैं, वेही नर हैं, और वेह अपना सुधार और जगत्का उपकार कर सकते हैं।

"धव" शब्द निघंटुमें मनुष्यवाचक है। यह "धावू=गतिशुद्ध्योः।" अथवा "धू=कंपने" इस धातु से बनता है। जो गतिसे अर्थात् हलचलसे

अपनी शुद्धि करते हैं, और जो विरोधियोंको डगमगाते हैं, उनको "धव" ऐसी संज्ञा वेदमें है । इस एक शब्दके मननसे भी पाठकोंको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। हलचलसे अपनी शुद्धि करके विरोधियोंको दूर करना, यही मनुष्यकी उन्नतिका साधन है। इस शब्दमें भी गतिका भाव अवश्य है।

मनुष्यवाचक वैदिक शब्दोंमें "चर्षणि" शब्द बहुत महत्व रखता है । "चरति इति चर्षणिः।" जो चलते हैं, आगे बढते हैं, प्रयत्नसे पुरुषार्थ करते हुए उन्नतिके मार्गसे चलतेही रहते हैं, वे "चर्षणि" कहलाते हैं। इस शब्दके विचारसे गतिका भाव अवश्यही व्यक्त होता है। जो स्थिति प्राप्त है, उसमें प्रयत्नसे उन्नति करके, अधिक उच्च स्थितिमें पहुंचनेका भाव इस शब्दमें है । आलसी बनकर चारपाईपरही बैठे बैठे सड जानेकी प्रवृत्तिका निषेध इस शब्दसे हो रहा है। "कृष्" धातुसे भी चर्षणि शब्दकी उत्पत्ति हो सकती है। जो कर्षण करते हैं वे कर्षक अथवा चर्षक होते हैं। इसमें यद्यपि कृषिका भाव विशेष है, तथापि हल चलानेका पुरुषार्थ इस अर्थमें भी है । निघंटु (२।२) में "वि-चर्षणि" शब्द "दर्शक" अर्थात् देखनेवाला इस अर्थमें आता है । तात्पर्य "चर्षणि" शब्दमें देखनेका भाव अवश्य है। जो अपनी परिस्थिति देखता है, जो उसके सुधारका विचार करता है, सुधारके लिये जो सदा पुरुषार्थ करता है वह चर्षणि होता है।

वैदिक कोश निघंटुमें मनुष्यवाचक "तुर्वश" शब्द आया है। "तूर्" धातुसे इसकी उत्पत्ति होती है। 'तूर्' का अर्थ त्वरा अर्थात् शीघ्रता करना है। (इसीसे पंजाबी भाषामें "टुर्" शब्द बना है) त्वरासे जो सबको वश करते हैं। जो शीघ्रतासे सबको वश करते हुए, सिद्धि प्राप्त करते हैं, उनको "तुर्वश" कहते हैं। इस शब्दमें भी गतिकी शीघ्रताका भाव है।

वेदमें "आयु" शब्द मनुष्यवाचक आता है। "इ-गतौ" धातुसे यह शब्द बनता है। "एति गच्छति ग्रामात् ग्रामं इति आयुः।" ग्रामांतर, देशांतर अथवा स्थानांतर करता है इस लिये गमनशील होनेके कारण मनुष्यको आयु कहते हैं। अपने ग्राममें अपने योग्य परिस्थिति

नहीं प्राप्त होती, इसलिये मनुष्य उस ग्रामको छोड कर दूसरे ग्राममें जाकर वसता है, इसी प्रकार देशदेशांतरमें जाता है, पुरुषार्थ करता है और अपने प्रयत्नसे अपनी उन्नति करता है, इसलिये मनुष्यका नाम "आयु" है। यह नाम बहुत बोध दे सकता है, इतना इसमें भाव है।

वेदके अंदर "जगत्" शब्दका अर्थ भी मनुष्य है। इस शब्दके अंदर गति है क्यों कि यह शब्द "गम्" धातुसे ही बनता है; जो जाता है वह "जगत्" है।

"पृ=व्यायामे" इस धातुसे "पृतनाः" शब्द बनता है जो वेदमें मनुष्यवाचक है; जो व्यायाम करता है अर्थात् प्रयत्न करता है; विशेष प्रकारसे नियमादिकोंका पालन करके अपनी उन्नतिके लिये अत्यंत परिश्रम करता है उसका नाम "पृतन" होता है।

कई लोग यहां शंका करेंगे कि, केवल गतिवाचक शब्दोंका अर्थ वेदमें मनुष्य है; इतना सिद्ध होनेसे क्या होगा? ठीक है, केवल इन शब्दोंसे कुछ भी सिद्ध नहीं होगा? परंतु यहां इतना ही बताना है, कि जो मनुष्यवाचक शब्द वेदमें आये हैं, वे बता रहे हैं, कि मनुष्यको अपनी उन्नतिके लिये हलचल करनी चाहिये। व्यक्तिको तथा संघको भी प्रयत्न करना चाहिये और अपना सुधार करना चाहिये। कई सुधार ग्राममें रहते हुएही हो सकते हैं, उनको वहां रहते हुए ही किया जा सकता है; परंतु कई ऐसे कार्य होते हैं, कि जो अन्य ग्रामोंमें अथवा अन्य देशोंमें जाकरही करने होते हैं; उनको यथायोग्य रीतिसे करनेके लिये देशदेशांतरोंमें प्रवास करना अत्यंत आवश्यक है। तात्पर्य अपनी उन्नति करनेके लिये यदि देशदेशांतरमें जानेकी आवश्यकता हुई, तो अवश्य जाना चाहिये। इस प्रकारके गमनकी सूचना उक्त शब्दोंमें है। केवल घरमेंही हिलने जुलनेका भाव नहीं है।

घरमेंही बैठे बैठे जो वृद्ध होते हैं, और देशदेशांतरमें जो नहीं जाते, तथा वहांसे ज्ञान प्राप्त करके जो अधिक पुरुषार्थ नहीं करते और अन्य देशवासियोंसे अधिक उन्नति करनेका यत्न जो नहीं करते, उनकी निंदा वेद कर रहा है। ऐसे लोगोंका वाचक "अमाजूः" शब्द वेदमें है। इसका अर्थ देखिये—

"अमा + जूः।"

अमा = घर और परिवार,

जूः = जीर्ण होना, वृद्ध होना।

अपने घरमें और अपनेही संबंधियोंमें रहकर जो वृद्ध होते हैं; अर्थात् वृद्ध होने तक-बूढे होने तक-जो अपने घरसे बाहिर नहीं जाते, अपने संबंधियोंको छोडकर दूसरे देशमें जाकर जो भ्रमण नहीं करते, देशदेशांतरके मनुष्योंकी स्थिति और अपनी अवस्थाकी तुलना नहीं करते, उनको वेद "अमा + जूः" कहता है। इस प्रकार अपने घरमेंही बैठे बैठे बूढे होनेवाले लोगों की निंदा वेद करता है, देखिये—

मा ते अमाजुरो यथा मूरास इंद्र सख्ये
त्वावतः॰ निषदाम सचा सुते। ऋ. ८।२१।१५

"हे (इंद्र) प्रभो! (यथा मूरासः) मूर्खोंके समान हम (अमा + जुरः मा) घरमेंही वृद्ध होनेवाले न बनें। (ते सख्ये) तेरी भक्तिमें (त्वा–वतः) तेरे साथही रहते हुए (सुते) यज्ञमें (सचा निषदाम) साथ साथ बैठेंगे।"

जो घरमें रहकरही वृद्ध होते हैं, प्रवास करके विशेष ज्ञान प्राप्त करके परम पुरुषार्थ नहीं करते, वे मूढ अर्थात् मूर्ख होते हैं। जो मूढ नहीं हैं वे परमेश्वरकी भक्ति करते हैं और संघशक्ति बढाकर देशदेशांतरमें भ्रमण करते हैं; वहांसे ज्ञान धन आदि कमाकर स्वदेशमें आकर अपने देशका सुधार करते हुए, अपना और जनताका भला करते हैं। यह भाव उक्त मंत्रमें है।

जो मूर्ख होते हैं वे ही घरमें बैठे बैठे जीर्ण होते हैं; अथवा यों कहिए कि जो कूपमंडूक वृत्ति धारण करके घरमें ही रहते हैं, कभी अपना घर छोडकर बाहिर नहीं जाते, उनको दूसरे स्थानका विज्ञान न होनेके कारण वे मूर्ख ही रहते हैं। ज्ञान बढानेके अनेक साधन हैं, उनमें देशदेशांतरमें प्रवास करना, यह भी एक साधन है।

जो इस प्रकारका प्रवास करते हैं, उनमें ज्ञानकी वृद्धि होती है, और अपनी उन्नति करनेके मार्ग ज्ञात हो सकते हैं । इसी लिये वेदनेभी घरमें बैठ बैठकर वृद्ध होनेवालेकी निंदा की है ।

"अमा+जूः" में जो "जूः" है उसका जीर्ण होना यह भाव मुख्यतया है । जीर्ण होनेका भाव बिगडना, सडना, निकम्मा बन जाना, क्षयको प्राप्त होना इत्यादि है । जैसा एक पुस्तक यदि अलमारीमें ही रखा जाये, उसको कोई न पढे, तो वहां रहता रहताही वह खराब होता है । इसी प्रकार अन्य पदार्थभी निकम्मे पडे हुए सड जाते हैं । मनुष्य यदि कोई उन्नतिका कार्य न करेगा, तो वहभी बैठे बैठे सड जाता है, यही भाव बतानेवाला उक्त शब्द है । घरमें निकम्मा बैठा हुआ ही जो बिगड जाता है, वह "अमा-जूः" है । कोई मनुष्य ऐसा न बने । यही उपदेश उक्त मंत्रसे व्यक्त हो रहा है । इसी विषयमें और मंत्र देखिये—

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगं ॥
कृधि प्रकेतमुप मास्याभर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः ॥

ऋ. २।१७।७

(पित्रोः सचा सती) मातापिताके साथ रहनेवाली लडकी (अमा-जूः इव) जैसी घरमेंही रहकर जीर्ण होती है, तद्वत् मेरीभी अवस्था है । इसलिये अब में (समानात् सदसः) उस साधारण स्थानसे—साधारण अवस्थासे (त्वा भगं आ इये) भाग्य की ओर आता हूं । मेरे लिये (प्रकेतं कृधि) विशेष ज्ञान दो । (उपमासि) तुलना करो । (तन्वः भागं दद्धि) शरीरके लिये सेवनीय भाग दो और (येन मामहः) इससे वृद्धि करो ।"

जिस प्रकार घरमेंही रहनेवाले पुरुष निकम्मे रहनेके कारण खराब हो जाते हैं, उसी प्रकार जो कन्यायें मातापिताके घरमेंही जीर्ण होतीं रहतीं हैं, उनकाभी जीवन बडा व्यर्थसा हो जाता है । कन्याको चाहिये कि ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके, ज्ञान संपादनपूर्वक पतिको प्राप्त करके गृहाश्रमका रथ योग्य मार्गसे चलानेका यत्न करे । जो कन्या ऐसा नहीं करती, अथवा पुत्रीप्रेमके कारण जो माता पिता अपनी पुत्रीको अपनेही

पास रखते हैं, और उनका जीवन निकम्मा करते हैं, वह कन्या "अमाजूः" अर्थात् घरमेंही जीर्ण होनेवाली होती है। जैसा इस प्रकारकी कन्याका जीवन व्यर्थ होता है, उसी प्रकार घरमेंही जीर्ण होनेवाले पुरुषका भी जीवन व्यर्थ जाता है। यह दोनों-स्त्री और पुरुष अथवा कन्या और पुत्र-के लिये समानही अवस्था है। घरमेंही जीर्ण होनेकी आदतसे जिस प्रकार पुत्रोंका जीवन व्यर्थ होता है, इसी प्रकार कन्याओंका भी व्यर्थ हो जाता है। यह अवस्था दोनोंके लिये समानही है। जो इस अवस्थासे ऊपर उठना चाहता है, वह सबसे प्रथम "भग" देवताके पास आता है। भाग्य अथवा सौभाग्यकी देवता भग है। जो मनुष्य भाग्य और ऐश्वर्य चाहते हैं, वेही भगके पास आते हैं। घरमेंही जीर्ण होनेवालोंको भाग्य अथवा ऐश्वर्य नहीं प्राप्त हो सकता। घर छोडकर जब प्रगति करनेके उद्देशसे पुरुषार्थके मैदानमें लोक बाहिर आवेंगे और आगे बढेंगे, तब उनको "भग" देवताकी भक्ति करनेका अवसर प्राप्त हो सकता है।

घरमेंही जीर्ण होनेवाले लोग अल्पसंतुष्ट होते हैं। जो स्वभावतः प्राप्त होता है उसीमें वे संतुष्ट होते हैं। जो इस प्रकार अल्प भाग्यमेंही संतुष्ट होंगे, वे "भग" के पास क्यों जांयगे? और भाग्यवर्धन के लिये पुरुषार्थभी क्यों करेंगे? इसलिये साधारण अवस्थासे ऊपर उठनेका भाव जिनमें होगा, वेही भाग्य बढानेके लिये अथवा सौभाग्यका संवर्धन करनेके लिये प्रयत्न करेंगे। यही भग देवताकी उपासना है। इसमें ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये प्रबल प्रयत्न करना मुख्यतया होता है। इस भगदेवताकी उपासना निम्न प्रकार होती है—

(१) प्र-केतं कृधि	=	विशेष ज्ञान प्राप्त कर। ...	ज्ञान।
(२) उप-मासि	=	तुलना कर।	तुलना।
(३) आ-भर	=	पूर्णतासे भर दो।	पोषण।
(४) तन्वः भागं दद्धि	=	अपने शरीरका भाग अर्पण कर।	अर्पण।
(५) येन मामहः	=	इससे बढ जाओ।	वृद्धि।

सबसे पहिले योग्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह स्पष्ट है कि संपूर्ण बंधन अज्ञानके कारण उत्पन्न होते हैं, और इसी लिये ज्ञान प्राप्त करनेसे

उनकी निवृत्तिका उपाय किया जा सकता है। व्यक्तिकी परतंत्रता, राष्ट्रकी पराधीनता तथा मनुष्यमात्रकी अवनतिका कारण अज्ञान ही है। इसलिये जो जो अपने भाग्यका उत्कर्ष करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे सबसे प्रथम ज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान प्राप्त करें।

ज्ञान प्राप्त करनेके समय और पश्चात्भी अपनी अवस्थाकी तुलना दूसरोंकी अवस्थाके साथ करें। "कूवेके मेंडक" न बनकर पहाडपर विचरनेवाले विहंगम बनें, और दूर दूरका निरीक्षण करें। इस प्रकारके निरीक्षण और परिश्रमसे अपनी अवस्थाका सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मैं कैसा था, इस समय कैसा हूं, और ऐसाही क्रम चलता रहा तो आगे कैसा बनूंगा; इसका विचार हरएकको अवश्य करना चाहिये। यही तुलना है। इस प्रकारकी तुलनासे भाग्योदयके मार्गका ज्ञान हो सकता है।

इस रीतिसे तुलना करनेके पश्चात् जो जो न्यूनतायें अपनेमें होंगी उनको दूर करनेके लिये और उस स्थानकी न्यूनताकी पूर्ति करनेके लिये (आ–भर) आ भरण अर्थात् पूर्णतासे भर देना चाहिये। जहां न्यूनता होती है, वहांकी पूर्णता करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ही शोभा बढती है। आभरणका नाम है अलंकार। अलंकार शोभाको इसलिये बढाते हैं, कि वे न्यूनताको पूर्ण करते हैं। सबसे पहिले ज्ञान प्राप्त किया और परिस्थितिकी तुलना की, पश्चात् जिस विषयमें जहां जिस प्रकारकी न्यूनता होगी, उस विषयमें वहां उस प्रकारकी पूर्णता करनेका यत्न होना चाहिये। यह बात जैसी अपने शरीरमें देखनी होती है, उसी प्रकार राष्ट्रमेंभी देखनी है। क्यों कि किसीभी स्थानमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहनी चाहिये। अपूर्णता ही दुःखकारक है और पूर्णता सुख देनेवाली है।

यह पूर्णता कैसी होगी? इसके उत्तरमें निवेदन है कि "पूर्णताके लिये अपने शरीरके भागका अर्पण करो।" पूर्णके लिये अंशका समर्पण हो। यह उन्नतिके यज्ञका नियम है। राष्ट्रके अभ्युदयके लिये एक एक व्यक्तिका समर्पण होना चाहिये। जिस राष्ट्रमें इस प्रकार आत्म-

समर्पण करनेवाली व्यक्तियां बहुत होंगी, वही राष्ट्र श्रेष्ठ बन सकता है। यह त्याग भावका तात्पर्य और महत्त्व है। यही यज्ञ है। इससेही उन्नति होती है। समष्टिके लिये व्यष्टिका अर्पण होनेके पूर्व उन्नतिकी अपेक्षा करना व्यर्थही है। इसलिये पूर्वोक्त मंत्रके अंतमें वेदने कहा है कि इसी प्रकार उन्नत हो जाओ। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

तात्पर्य यह है कि घरमेंही बैठे बैठे आलस्यमें मत सड जाओ। अपना सुधार करनेकी प्रबल इच्छा धारण करके बाहिर आओ, ज्ञान प्राप्त करो, अपने ज्ञानसे अपनी परिस्थितिका विचार करो, पूर्णतासे तुलना करो, जो न्यूनता होगी, जहां दोष प्रतीत होंगे, वहांका ठीक सुधार करो, वहांकी पूर्णता और निर्दोषता संपादन करो। उन्नतिके कार्यके लिये यहांतक उद्यत हो जाओ कि अपना समर्पण करनेका अवसर प्राप्त हुआ, तोभी तुम अपना समर्पण करनेके समय कभी पीछे न हटो। अपना समर्पण करो, क्यों कि यही यज्ञ है, समर्पणसे ही यज्ञ होता है। जब एक बीज अपने आपका पूर्ण रीतिसे समर्पण करता है, तब जाकर उससे बडा वृक्ष बनता है और वह फलता और फूलता है। तात्पर्य जैसा वृक्षका बनना एक बीजके आत्मयज्ञपर अवलंबित है, उसी प्रकार समष्टिका उद्धार भी व्यष्टिके आत्म-यज्ञपरही अवलंबित है। दान, त्याग, समर्पण, अर्पण, यज्ञ इसका जो महत्त्व है, वह इस कारण ही है। इस विषयमें अब यहां और एक मंत्र देखिये—

अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चि-
दवितारापमस्य चित्॥ अंधस्य चिन्नासत्या
कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्॥ ऋ. १०।३९।३

"(युवं) आप (अमा-जुरः चित्) घरमेंही जीर्ण होनेवालेके लियेभी (भगः भवथः) ऐश्वर्य देनेवाले हो जाइये। जो (अन्-आशोः चित्) भूखा है और (अपमस्य चित्) निकृष्ट अवस्था तक पहुंचा है उसकाभी (अवितारौ) संरक्षण करनेवाले बन जाइये। हे (नासत्या) अश्विदेवो! आप (अंधस्य चित्) अंधा (कृशस्य चित्) दुर्बल और (रुतस्य चित्) रोगीके (युवां भिषजौ) आपही वैद्य हैं, ऐसा (आहुः) कहते हैं।"

घरमें जीर्ण होनेवालेका रक्षण देवता ही करे, परमात्माही उसका रक्षक बने, क्यों कि और कोई उसका संरक्षण करही नहीं सकता। जो मनुष्य

अपना अभ्युदय होनेके लिये स्वयं पुरुषार्थ नहीं करेगा, उसको कौन सहाय दे सकता है। ऐसे मनुष्यको संस्कृतमें "देवानां प्रियः" देवोंके लिये ही प्रिय कहते हैं। क्यों कि ऐसा आलसी मनुष्य और किसीको प्यारा हो ही नहीं सकता। उक्त वेदमंत्रमेंभी अश्विदेवोंकोही कहा है कि वे ऐसे मनुष्यके साथ प्यार करें!! और उसका रक्षण करें!! घरमें बैठे रहनेसे अर्थात् आलस्यमें जीवन व्यतीत करनेसे कैसी अनर्थपरंपरा आती है, इसका वर्णन इस मंत्रमें उत्तम प्रकारसे किया है। देखिये इस मंत्रके शब्दकी रचनाकी अद्भुतता कैसी विलक्षण है—

(१) अमा + जुर्= घरमें बैठे बैठेही जीर्ण होनेवाला, अर्थात् कोई पुरुषार्थ न करनेवाला आलसी। उद्योग न करनेके कारण इसको खानेकोभी नहीं मिलता, देखिये—

(२) अन् + आशुः= अशन अर्थात् भोजनके लिये जिसको कुछभी नहीं मिलता उसको "अनाशुः" कहते हैं। पुरुषार्थ न करनेवालेको भोजन कैसा मिल सकता है? इसलिये वह निकृष्ट अवस्थामें पहुंचता है—

(३) अपमः= "अपम" का अर्थ है निकृष्ट हीन अवस्थामें पहुंचा हुआ। उद्योग करना नहीं और भोजनके लिये कुछ मिलना नहीं, इसलिये प्रतिदिन अवस्था बडी खराब हो जाती है। ऐसी खराब अवस्था होनेपरभी वह देखता नहीं, सोचता नहीं, तात्पर्य वह अंधा बनता है—

(४) अंधः— अंध उसको कहते हैं कि जो अपनी स्थितिको देख नहीं सकता। मैं ऐसा हीन अवस्थामें क्यों पहुंचा हूं, मुझे खानेको क्यों नहीं मिलता, इत्यादि बातोंका वह विचारही नहीं करता, और अपने दैवको ही दोष देता रहता है। ऐसी चिंतामें वह कृश होता है—

(५) कृशः— दिन प्रति दिन कृश होता है, क्षीण होता है। उद्योग करना नहीं, खानेको नहीं है, अवस्था हीन बनी है, उसका कारण ढूंढनेका ज्ञान नहीं है, इस सब अनर्थके कारण कृश होता हुआ अंतमें वह रोगी बनता है—

(६) रुतः—वह रोगी होता है। अंतमें रोग आता है और उस विचारेको लेजाता है। कौन इसको मदत करेगा? ऐसे आलसीकी सहायता उसको उत्पन्न करनेवालाही करे। अन्योंसे क्या हो सकता है?

इस अनर्थपरंपराका क्रम देखिये—

अमा+जुः=घरमें बैठनेवाला आलसी	आलस्य
अन्+आशु=भोजन न मिलना	दारिद्र्य
अपमः=निकृष्ट अवस्था	हीनता
अंधः=स्थितिका अविचार	अज्ञान
कृशः=दुर्बलता	दुर्बलता
रुतः=रोगी होमा	रोग
मृत्यु	नाश

घरमें आलसी बैठनेकी यह अनर्थपरंपरा है। इससे उद्यमी पुरुषकी उत्कर्षपरंपराभी ज्ञात हो सकती है-(१) बाहिर देशदेशांतरमें जहां योग्य स्थान मिले वहां जाकर पुरुषार्थ करनेवालेको, (२) उत्तम भोजनादि उपभोगके पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, (३) उसकी श्रेष्ठ और उच्च अवस्था हो जाती है, क्यों कि प्रतिदिन वह अपनी परिस्थितिका विचार करता है, (४) वह आंख खोलकर सर्वत्र देखता रहता है, (५) उसका बल बढता जाता है, वह अपने बलको बढता है, (६) उसकेपास रोग नहीं आते क्यों कि उसमें रोग प्रतिबंधक शक्ति रहती है। ऐसा पुरुष दीर्घ आयु प्राप्त करके अपना और जनताका उत्कर्ष करता हुआ तथा यशस्वी और विजयी होता हुआ, आदर्श पुरुष बन जाता है। ऐसे पुरुषोंके निम्न गुण होते हैं—

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः ॥
अनातुरा अजरा स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः॥

ऋ. १०।९४।११

"(तृदिलाः) शत्रुको छिन्नभिन्न करनेवाले परंतु (अ-तृदिलासः) स्वयं शत्रुसे छिन्नभिन्न न होनेवाले, ऐसे (अद्रयः) सुदृढ, अतएव (अ-श्रमणाः) श्रम न होनेवाले, बहुत परिश्रम करनेपरभी जिनको थकावट नहीं होती, क्यों कि वे (अ-शृथिताः) शिथिल नहीं होते, इसलिये (अ-मृत्यवः) वे मरते नहीं, अर्थात् अकाल मृत्युसे नहीं मरते। तथा वे (अन्+आतुराः) रोगी नहीं होते, (अ-जराः) जीर्णभी नहीं होते, अर्थात् वृद्ध अवस्थामेंभी तरुण जैसे उत्साही रहते हैं, तथा (अम-विष्णवः) बलके साथ सर्वत्र जानेवाले किंवा संचार करनेवाले, (सु-पीवसः) हृष्टपुष्ट होते हैं। तथा वे (अतृषिताः) तृष्णासे दूर होते हैं तथा (अ-तृष्णजः) तृष्णासे उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे वे दूर होते हैं।"

ये गुण अपने अंदर धारण करके परम पुरुषार्थ करनेकी इच्छासे सदा अपने अभ्युदयके लिये उद्यम करना चाहिये। क्योंकि "मनुष्य अपना उद्धार आपही करे। अपने आपको कभी भी गिरने न दे। क्यों कि प्रत्येक मनुष्य स्वयंही अपना बंधु अर्थात् सहायक, या स्वयं अपना शत्रु है। जिसने अपने आपको जीत लिया, वह स्वयं अपना बंधु है; परंतु जो अपने आपको नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथही शत्रुके समान वैर करता है।"

(श्री. भग. गीता. ६।५,६)

जनोंके भिन्न कर्म ।

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ॥
तक्षा रिष्टं, रुतं भिषक्, ब्रह्मा सुन्वंतमिच्छति० ॥ १ ॥
(ऋग्वेद ९।११२)

(नः जनानां) हमारे मनुष्योंके (व्रतानि) कर्म और (धियः) कल्पनायें (वि वै उ) भिन्न ही निश्चयसे हैं। इस कारण समाजमें (नानानं) भिन्नता है। (तक्षा रिष्टं इच्छति) बढई टूटे हुए की ओर देखता है, (भिषक् रुतं इच्छति) वैद्य रोगीको चाहता है; तथा (ब्रह्मा सुन्वंतं इच्छति) ब्राह्मण यज्ञ कर्ताको देखता रहता है।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम् ॥
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवंतमिच्छति० ॥ २ ॥

(जरतीभिः ओषधीभिः) परिपक्व औषधियोंसे वैद्य, (शकुनानां पर्णेभिः) पक्षियोंके पंखोंसे कारीगर, तथा (द्युभिः अश्मभिः) चमकदार रत्नोंसे (कार्मारः) सुनार-शिल्पकार, (हिरण्यवंतं इच्छति) पैसेवालेकी इच्छा करता है।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ॥
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम० ॥ ३ ॥

(अहं कारुः) मैं कारीगर हूं। (ततः भिषक्) मेरा पिता वैद्य है। (नना उपलप्रक्षिणी) मेरी माता चक्की पीसती है। इसप्रकार (नानाधियः) नाना प्रकारकी बुद्धियां धारण करनेवाले और (वसू-यवः) धनकी इच्छा करनेवाले हम सब अपने अपने कार्यका (अनु तस्थिम) अनुष्ठान करते हैं। (गाः इव) जैसीं भिन्न गौवें एकत्र रहतीं हैं वैसे एक घरमें रहते हैं।

अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमंत्रिणः ॥
शेपो रोमण्वंतौ भेदौ वारिन्मंडूक इच्छति ॥
इंद्रायेन्दो परिस्रव ॥ ४ ॥

(वोळ्हा अश्वः सुखं रथं इच्छति) रथ खींचनेवाला घोडा आरामसे रथ खींचना चाहता है। (उप मंत्रिणः हसनां) साथी लोग हास्य विनोद चाहते हैं । (शेपो रोमण्वंतौ भेदौ) पुरुष स्त्री की इच्छा करता है। (मंडूकः वार् इत् इच्छति) मेंडक पानी चाहता है। इसलिये हे (इंदो) सोम! तू (इंद्राय परि स्रव) इंद्रके लिये फैल जाओ।

थोडासा विचार—लोग विविध कर्म करते हुए पैसा कमाकर सुखसे रहना चाहते हैं। (१) वैद्य चाहता है कि मेरे पास बीमार बहुत आजांय; इस लिये वह अच्छी दवाइयां तैयार करता रहता है, और धनिक बीमारको आते हुए देखकर खुश होता है। (२) तखांण अथवा बढई चाहता है कि लोग मेरेसे लकडी का काम करालें और मुझे पैसा दें, इस लिये वह अच्छी लकडियां अपने पास रखता है और धनिक की प्रतीक्षा करता है। (३) पंडित लोग चाहते हैं कि कोई भद्र पुरुष बडा यज्ञ करे और हमें बहुत दक्षिणा मिले। (४) कारीगर लोक पक्षियोंके पंख तथा अन्य पदार्थ जमा करते हैं, और सुंदर खिलौने बनाकर गिन्हाइक का इंतजार करते बैठते हैं। (५) शिल्पकार विविध रंगोंके रत्नोंको जमा करके सुंदर जेवर बनाते हैं, और धनाढ्य पुरुष के मुखकी ओर देखते रहते हैं! इस प्रकार हजारों धंदे और अनेक कल्पनायें करके लोक धन कमाते हैं।

एकही घरमें देखिये, पिता वैद्य है तो उसका पुत्र कारीगरी का काम कर रहा है, स्त्रियां चक्कियां पीस रहीं हैं, कोई भाई काव्य बना रहा है. तो दूसरा अन्य धंदा कर रहा है। जिस प्रकार एक ही गोशालामें भिन्न रंगरूपकी और न्यून अधिक दूध देनेवाली गौवें रहतीं हैं, इसी प्रकार विविध कारीगरी करनेवाले, परंतु सबही पैसा कमानेकी इच्छा करनेवाले, लोग एक ही स्थानमें रहते हैं और अपना अपना धंदा करते हैं।

सबकी इच्छा यही है कि, थोडा काम करके अधिक सुख मिले। घोडा भारी रथ ओढना पसंद नहीं करता, परंतु हलका रथ ओढना चाहता है।

राजाके मंत्री अथवा साधारण लोगोंके साथी काम करना नहीं चाहते, परंतु गप्पें मारना और मजा उडाना ही चाहते हैं । इसी प्रकार मर्द स्त्रीकी इच्छा करता है । और मेंडक पानी चाहता है ।

यह सर्व साधारण प्रवृत्ति है, इस अवस्थामें मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें वेदका उपदेश है कि—"सोम को चाहिये कि वह इंद्रके लिये फैले ।" सोम अर्थात् चंद्र ऋणी है और इंद्र स्वयं प्रकाशी अर्थात् धनी है । धनी और ऐश्वर्यवान् लोग जैसी कारीगरी चाहते हैं, वैसी बनाकर अन्य उपजीवी लोगोंको धन कमाना चाहिये । प्रतिदिन उत्तम उत्तम सुंदर पदार्थ बनाकर तथा कारीगरीमें प्रवीणता संपादन करके धनाढ्य पुरुषोंसे धन प्राप्त करके सुखी होना चाहिये । **जिस प्रकार चंद्र (सोम) प्रतिदिन नवीन नवीन कलाओंसे युक्त होता है, उसीप्रकार सबको प्रतिदिन विविध कलाओंसे युक्त होना चाहिये ।**

रक्षकोंके राक्षस ।

"रक्षः, रक्षस्, राक्षस" ये शब्द राक्षसोंके वाचक हैं, और "राक्षस" शब्दसे जो कल्पना प्रसिद्ध है, उसके साथ सब पाठक परिचित ही हैं। "रक्ष्" धातुसे उक्त शब्द बने हैं, जिसका अर्थ "रक्षण करना, पालन करना" है। अर्थात् उक्त शब्दोंका अर्थ भी "रक्षण करनेवाला, पालन करनेवाला" होना अत्यंत स्वाभाविक ही है, यही भाव रामायणमें भी है। देखिये—

> प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपः सलिलसंभवः ॥
> तासां गोपायने सत्वानसृजत् पद्मसंभवः ॥ ९ ॥
> ते सत्वाः सत्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः ॥
> "किं कुर्म" इति भाषंतः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ॥ १० ॥
> प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन्निव ॥
> आभाष्य वाचा यत्नेन रक्षध्वमिति मानवाः ॥ ११ ॥
> "रक्षाम" इति तत्रान्यै "यँक्षाम" इति चापरैः ॥
> भुंक्षिताऽभुंक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ॥ १२ ॥
> "रक्षाम" इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवंतु वः ॥
> "यक्षाम" इति यैरुक्तं यक्षा एव भवंतु वः ॥ १३ ॥

वाल्मि. रामा. उ. कां. ४

"प्राचीन कालमें प्रजापतिनें प्रजा उत्पन्न की। सब उत्पन्न हुए प्राणी कहने लगे, कि 'हम क्या करें।' प्रजापतिनें कहा कि 'संरक्षण करो'। यह प्रजापतिका भाषण सुनकर कईयोंनें कहा कि 'हम रक्षण करेंगे,' दूसरोंनें कहा कि 'हम यजन करेंगे।' जिन्होंनें 'रक्षण करेंगे' ऐसा कहा था, उनका नाम 'राक्षस' हुआ और जिन्होंनें 'यजन करेंगे' ऐसा कहा था, उनका नाम 'यक्ष' हुआ। इसमें स्पष्ट कहा है कि रक्षा करनेवाले,

दूसरोंका संरक्षण अथवा पालन करनेवाले ही राक्षस थे। जिन्होंने अपने आपको दूसरोंकी पालनाके लिये समर्पित किया था वे "राक्षस" नामसे प्रारंभमें प्रसिद्ध थे परंतु पश्चात् "राक्षस" शब्दका बडाही भयानक अर्थ हुआ है। इसके हेतुका विचार करना चाहिये। अमरकोशमें राक्षसोंके नाम निम्न लिखित दिये हैं—

> असुरा दैत्य-दैतेय-दनुजेन्द्रारिदानवाः ॥
> शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः ॥ १२ ॥
>
> अमर. १।१।१२

> राक्षसः कौणपः क्रव्यात्क्रव्यादोऽस्रप आशरः ॥ ५९ ॥
> रात्रिंचरो रात्रिचरः कर्बुरो निकषात्मजः ॥
> यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी ॥ ६० ॥
>
> अमर. १।१।६०

इन श्लोकोंमें असुरों और राक्षसोंके बहुतसे नाम दिये हैं। सभी नाम प्रसिद्ध हैं, और इनमेंसे कई नाम वैदिक मंत्रोंमें और कई नाम लौकिक संस्कृत काव्योंमें प्रयुक्त हैं। अब इनके अर्थका विचार करके यह निश्चय करना है कि, राक्षसोंका पहिला अर्थ अच्छा क्यों था, और पीछेसे बुरा क्यों हुआ है?

ऊपरले शब्दोंमें "पूर्व-देवाः" शब्द है, जो राक्षसोंका वाचक है। (पूर्व) पहिले जो देव थे, वह "पूर्व-देव" कहे जाते हैं। राक्षसोंके नामोंमें यह नाम बडाही विचार करने योग्य है। "राक्षस" ये ही पहिले देव थे, पीछेसे राक्षस बने हैं। अर्थात् ये पहिले लोकोंका संरक्षण करते थे; लोगोंके भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करते थे, जनताके संरक्षणके लिये अपने आत्माकी आहुती देते थे, तबतक ये देव थे; पश्चात् जब रक्षणके स्थानपर लोकोंका भक्षण करने लगे तब इनका नाम "पूर्व-देव" होगया; अर्थात् "पहिले एक समयमें ये देव थे, परंतु अब ये 'अदेव' हो गये हैं।" इस प्रकार यही इनका नाम जो पहिले प्रशंसाका द्योतक था, अब उपहासका द्योतक हुआ है।

"पूर्व—देवाः" इस शब्दके विषयमें अनेक टीकाकारोंकी भी यही संमति है—

पूर्वे च ते देवाः, यद्वा पूर्वे देवाः
अन्यायाद्धि देवत्वाद्भ्रष्टाः

अमरटीका। भानुदीक्षित। १।१२॥

अ—नयाद्देवत्वाद् भ्रष्टाः।

अमरटीका। क्षीरस्वामी। १।१२॥

अर्थात् "ये पहिले देव थे, परंतु अन्याय करनेके कारण देवत्वसे भ्रष्ट हो गये।" तात्पर्य न्याय्य धर्मयुक्त आचरण जबतक रहता है तबतक देवत्व रह सकता है, जब अधर्ममें प्रवृत्ति हो जाती है तब वेही देव राक्षस बन जाते हैं।

उक्त अमरकोशके राक्षस वाचक शब्दोंमें एक और विचार करने योग्य शब्द हैं, वह "पुण्य-जनः" है। इसका अर्थ भी राक्षसही है। पुण्य कर्म करनेवाला मनुष्य पुण्यजन कहा जाता है। जबतक ये राक्षस जनताके संरक्षणका पुण्यकर्म कर रहे थे, तब तक इनका सच्चा नाम "पुण्य—जन" था, परंतु जब ये ही जनताका घातपात करके अपना स्वार्थ साधन करके जनताके कष्ट बढाने लगे, तब इन्हीका नाम "भले आदमी" (पुण्य—जन) हुआ। पहिले जो शब्द स्तुतिके लिये प्रयुक्त था वही अब निंदाका नाम हुआ।

तात्पर्य यह कि प्रारंभमें जो जनताका संरक्षण कर रहे थे वेही जब अधर्ममें प्रवृत्त हुए तब वेही अप्रिय बने और इसी कारण "रक्षक" वाचक "राक्षस" शब्द "भक्षक" वाचक बन गया। इस विषयमें "असुर" शब्द अत्यंत आश्चर्यकारक भाव बता रहा है। (असु) प्राण (र) देनेवाला अर्थात् जो अपने प्राण दूसरोंके रक्षण के लिये समर्पित कर देता है, वह (अपना जीवन देनेवाला) "असु-र" कहलाता है,। आजकलभी धार्मिक राजकीय अथवा सामाजिक संस्थाओंके लिये अपना "जीवन अर्पण" करनेवाले बहुत हैं। दूसरोंकी भलाइके लिये अपना जीवन अर्पण करना अत्यंत प्रशंसनीय कर्म है। असुरोंने यही पहिले

किया, इसलिये "राक्षस, पूर्व-देव, पुण्य-जन" शब्दोंके समान ही यह "असु-र" शब्दभी पहिले प्रशंसाके अर्थमें प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार वेदमें भी यह असुर शब्द दिव्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, देखिये—

(१) गभीरवेपा असुरः सुनीथः॥ ऋ. १।३५।७
(२) हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः
स्ववाँ यात्वर्वाङ्॥ ऋ. १।३५।१०
(३) बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः॥ ऋ. १।५४।३
(४) त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा
असुर ये च मर्ताः॥ ऋ. २।२७।१०
(५) त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः॥ ऋ. २।१।६

(१) गंभीरतासे प्रेरणा देनेवाला (असु-रः) जीवनदाता (सु-नीथ) उत्तम नेता है। (२) सुवर्णके आभूषण धारण करनेवाला उत्तम नेता (सु-मृळीकः) सुखदायक (स्व-वान्) आत्मिक बलसे युक्त (असु-रः) जीवन देनेवाला हमारे पास आजाये। (३) (बृहत्-श्रवाः) विशेष कीर्तिसे युक्त जीवन दाता है। (४) हे (असु-र वरुण) जीवन दाता वरुण! तूं देव और मनुष्य सबका राजा है। (५) हे अग्ने! तूं बडा रुद्र और बडा जीवन दाता है।

इन मंत्रोंमें "असु-र" शब्द जीवन दाता, प्राण-प्रद, दिव्य, बलवान, प्राणशक्तिसे युक्त आदि अर्थोंमें है। ये सब अर्थ अच्छा भाव बता रहे हैं। तात्पर्य "असुर" शब्दका भाव एक अवस्थामें बहुत अच्छा है, परंतु यह शब्दभी दूसरी अवस्थामें "राक्षस, पूर्वदेव" शब्दोंके समान ही बुरे अर्थमें प्रयुक्त होता है। देखिये—

(१) हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा
देवत्वमभिरक्षमाणाः॥ ऋ. १०।१५७।४
(२) असुरान् रंधयासि नः॥ अथर्व. ६।७।२
(३) असुरान् पराभावयन् मनीषी॥ अथर्व. ८।५।३
(४) बाधतामिंद्रो दस्यूनिवासुरान्॥ अथर्व. १०।३।११
(५) देवा असुरानभ्यवर्तयन्॥ अथर्व. १२।१।५

"(१) देव देवत्वका संरक्षण करते हुए असुरोंका हनन करके आगे बढे। (२) हमारे असुरोंका नाश करो। (३) बुद्धिमान् असुरोंका पराभव करता है। (४) चोरोंके समान असुरोंको बाधा कीजिये। (५) देवोंने असुरोंका पराभव किया।"

इन मंत्रोंमें "असुर" शब्द बुरे अर्थमें है। जो "असुर" एक समय मित्र थे वेही दूसरे समय शत्रु बने हैं। जो एक अवस्थामें प्रेमका स्थान थे, वेही आगे द्वेषके योग्य बने हैं। जो आदरणीय थे निंदनीय बने हैं। जो अपना जीवन दूसरोंके संरक्षण करनेमें लगाते थे, वेही इतने द्वेषके योग्य क्यों समझे गये, यह विचार करने योग्य है। तात्पर्य "राक्षस, पुण्य-जन, पूर्व-देव, असु-र" इन सब शब्दोंमें पहिला भाव बडा अच्छा था, परंतु पश्चात् इनकाही भाव बहुत बुरा होगया है। इसमें क्या तात्पर्य है, इसका हम आगे विचार करेंगे। यहां राक्षस वाचक और कौनसे ऐसे शब्द हैं, जो कि पहिले अच्छे भाव बताते हुए, पीछे घातपातका बुरा भाव व्यक्त करने लगे हैं, इनका और विचार करेंगे। "असुर" शब्दकी व्युत्पत्ति करनेके समय अमर टीकामें क्षीरस्वामी लिखते हैं—

असुराः सुराया अपानात्। अमर टीका १।१२

"शराब न पीनेके कारण राक्षसोंका नाम अ-सुर हुआ" अर्थात् राक्षस पहिले (अ-सुराः) शराब नहीं पीते थे। जबतक ये शराबी न थे, तब-तक ये धर्मात्मा होनेके कारण प्रशंसनीय थे। परंतु जबसे शराबखोरी इनमें बढ गई, तबसे अधर्म शुरू होने के कारण वेही निंदनीय बन गये। यही बात रामायणमें है—

सुरा-प्रतिग्रहाद्देवाः सुरा इत्यभिविश्रुताः॥
अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुरास्तथा॥

वाल्मि. रामा.

सुराका स्वीकार करनेसे देवोंका नाम सुर हुआ, और सुरा का स्वीकार न करनेसे दैत्योंका नाम असुर हुआ।" इस प्रकार रामायणमें असुरोंका

वर्णन है। अर्थात् ये असुर भले आदमी प्रतीत होते हैं और इस श्लोकमें कहे देव शराबी प्रतीत होते हैं। देखनेमें यह बात बडी ही विलक्षण सी प्रतीत होती है, परंतु इसका निश्चय जो कुछ है, हम अधिक विचार करके ही करेंगे। तात्पर्य यह कि असुर शब्दका एक अर्थ अच्छा भी है।

राक्षसोंके नामों में "शुक्र-शिष्य" शब्द आता है। शुक्र शब्दके अर्थ—"तेज, प्रकाश, शुभ्र, स्वच्छ, शुद्ध, वीर्य, स्त्री-पुरुष-शक्ति, जल" इतने हैं। इनमें कोईभी अर्थ बुरा नहीं है। कईयोंका पक्ष है कि शुक्राचार्य की कथा एक अलंकाररूप है। यह पक्ष सत्य है वा असत्य इसका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है। परंतु कहना इतना ही है कि यदि क्षणभर इस कथा को रूपक ही माना जाय, तो "राक्षस शुक्रशिष्य हैं" इसका भाव राक्षस "प्रकाश, शुद्धता और वीर्यके शिष्य" हैं ऐसा स्वीकार करना पडेगा। प्रकाशके मार्गमें व्यवहार करनेवाले, शुद्धताके साथ कर्म करनेवाले और वीर्यकी रक्षा करनेवाले राक्षस शुक्र-शिष्य समझने योग्य हैं। जो आचार्य नई रोशनी बतानेवाला, शुद्ध मार्गका प्रवर्तक और वीर्य रक्षणके उपाय बतानेके कारण "संजीवनी विद्या" का उपदेशक होता है, वही सच्चा शुक्राचार्य कहने योग्य है, और इसके जो शिष्य होगें वे आरंभमें "राक्षस" अर्थात् दूसरोंकी रक्षा करनेवाले, "पुण्यजन" अर्थात् शुभ कर्म करनेवाले, "पूर्व देव" अर्थात्, पहिले देव, और "असु-र" अर्थात् प्राण और जीवनके दाता, समझे गये, तो कोई असंभव और आश्चर्यकारक बात नहीं है। सांप्रतमें राक्ष-सोंके विषयमें जो भाव हमारे मनमें है उसके साथ यह भाव विपरीत प्रतीत होता है; तथापि यह भाव उक्त शब्दोंमें नहीं है, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। ये भाव किस कारण बदलते हैं, इसका हेतु बडा बोधप्रद है, इस लिये इसका अधिक विचार करना आवश्यक है।

उक्त शब्दोंके पश्चात् "यातु—धान" शब्द विचार करने योग्य है। इसकी व्युत्पत्ति भानुदीक्षित अमरटीकामें निम्न प्रकार करता है—

यातूनि यातनाः धीयन्तेऽस्मिन्॥ अमरटीका १।१।६०

"जिसमें यातनायें धारण कीं जातीं हैं।" टीकाकारका यह तात्पर्य है

कि जिसको यातनायें अर्थात् कष्ट दिये जाते हैं । परन्तु राक्षस वाचक शब्दोंमें जो उत्तम भाव हम देखते आये हैं, उसके साथ यह अर्थ सजता नहीं है । यातनायें जिसमें धारण कीं जातीं हैं, अर्थात् जो यातनाओंको धारण कर सकता है, कष्टोंको अपने अंदर सह सकता है वह यातुधान है, जो दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने आत्माका बलिदान करनेको सिद्ध होता है, उसमें कष्ट सहन करनेकी शक्ति विशेष ही चाहिए; नहीं तो वह कदापि दूसरोंका रक्षण कर नहीं सकेगा, और अपने आपको दूसरोंकी भलाई के लिये पूर्णतया समर्पित भी नहीं कर सकेगा । जितने महात्मा इस समयतक हुए हैं, उनमें कष्ट सहनेकी शक्ति सबसे अधिक थी । अमरकोशका पाठ "यातुधानः पुण्यजनः ।" है, अर्थात् "पुण्य-जन" ही "यातु-धान" है । इसका तात्पर्य यह कि "वह पुण्यात्मा है, कि जो दूसरोंके लिये स्वयं खुशीसे यातना भोगता है ।"

इतने शब्द देखनेके पश्चात् "पूर्व-देवाः" शब्दके विषयमें एक श्लोक देखना आवश्यक है—

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ॥
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥

मनुस्मृति. ३।१९२

"क्रोध न करनेवाले, शुद्धाचरण करनेवाले, ब्रह्मचारी अर्थात् ऊर्ध्व-रेता संयमी, (न्यस्त-शस्त्राः) शस्त्र न धारण करनेवाले अर्थात् अनत्याचारी, (पितरः=पातारः) रक्षक महाशय पूर्व-देव कहे जाते हैं ।"

इस मनुके श्लोकमें "पूर्व-देव" कौन हैं और उनके कर्म तथा लक्षण क्या हैं, इसका उत्तम वर्णन है । "जो महाशय काया वाचा मनमें भी क्रोध हिंसा और अत्याचार नहीं रखते, सदा शुद्ध और सरल धर्माचरण करनेमें दत्तचित्त होते हैं, अपने वीर्यका उत्तम संरक्षण करते हैं, शस्त्र हाथमें न धारण करते हुए अनत्याचारी मार्गसे ही दूसरोंका संरक्षण करनेका सदुद्योग करते हैं, वे पूर्व-देव कहे जाते हैं ।" जो "पूर्व देव" हैं, वेही "पुण्य-जन, यातु-धान, असु-र, और राक्षस" होते हैं । इन सबका अर्थ एक ही है ।

जिस भावमें इनका अच्छा अर्थ है, उसी भावको मनमें रखकर ये अर्थ देखने हैं।

मनुके उक्त श्लोकमें "पितरः पूर्वदेवताः" पाठ है। अर्थात् ये "पूर्व-देव" पितर हैं। "पितरः, पातारः" इसमें पितर शब्द रक्षक अर्थमें है। "राक्षस" शब्दका जो मूल अर्थ हमने देखा, वही "पितरः" शब्दमें है; इससे सिद्ध है कि राक्षस वाचक पूर्वोक्त शब्दोंमें "**दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने आपको समर्पित करनेवालोंका समावेश होता है।**" अब अन्य शब्दोंका विचार करनेके पूर्व यहांतक जो विचार हुआ है, उसको फिर देखेंगे, जिससे इस नवीन विचारके साथ पाठकोंका अच्छी प्रकार परिचय होगा।

(१) सृष्टि उत्पन्न होनेके पश्चात् प्रजापतिनें लोगोंसे पूछा कि "तुम क्या काम करनेके लिये तैयार हो? कइयोंनें उत्तर दिया कि "(रक्षामः) हम अन्योंका संरक्षण करेंगे" इनका नाम "राक्षस" हुआ।

(२) इनको ही "पुण्य—जन (भले आदमी)" ऐसा इस लिये कहने लगे, कि ये दूसरोंका भला कर रहे थे। दुर्बलोंके संरक्षणके लिये अपने आपको अर्पण करना पुण्यकर्म ही हैं।

(३) ये अपने (असु) प्राण दूसरोंके संरक्षणके लिये (र) अर्पण करते थे, इस लिये इनको ही "असु-र (जीवन अर्पण करनेवाले)" ऐसा कहा गया। ये (सुरा) शराब नहीं पीते थे इस लिये भी इनको "अ-सुराः" कहा जाता था।

(४) (शुक्र) वीर्यका संरक्षण करनेके उपाय बतानेवाला एक आचार्य था, वह वीर्य संरक्षण द्वारा 'संजीवनी विद्या' का ज्ञान अपने शिष्योंको देता था, इस आचार्यका शिष्यत्व करके उक्त "स्वयं—सेवक" वीर्य रक्षण करके अपना बल बढाते थे, और अपने आपको "शुक्र—शिष्य" अर्थात् शुक्राचार्यके शिष्य कहते थे।

(५) दूसरोंका संरक्षण करनेके समय जितनीं (यातु) यातनायें होतीं थीं, उनको शांतिके साथ अपने अंदर (धान) धारण करते थे और अपने कर्तव्यसे पीछे नहीं हटते थे, इस लिये इनको "यातु-धान" कहा जाता था।

(६) ये "स्वयं सेवक" अक्रोधी, शुद्धाचरणी, ब्रह्मचारी, अनत्याचारी महाशय होते थे, इस लिये इन पूर्णदेवोंको "पूर्व-देव" कहा जाता था।

सारांश रूपसे राक्षस वाचक शब्दोंके मूल अर्थोंका इतना विवरण हुआ है। इस विवरणको जो पाठक पढेंगे, और साथ साथ मूल धात्वर्थका अर्थात् यौगिक अर्थका अनुसंधान करते हुए, प्रचलित रूढिगत अर्थोंको अपने मनसे दूर करेंगे, उनके मनमें निश्चय रूपसे यह भाव आजायगा कि, ये "राक्षस" एक समय "स्वयं सेवक" ही थे। जनताका रक्षण करनेके लिये इन्होंनें अपना जीवित्व अर्पण किया था। इसीलिये इनके सन्मानके लिये "पुण्य-जन, पूर्व देव" आदि नामोंसे इनका वर्णन होता है। यह "स्वयं-सेवक" की कल्पना राक्षसोंकी मूल उत्पत्तिमें है, ऐसा क्षणभर मान कर राक्षस वाचक कई अन्य शब्दोंका अर्थ यहां देखेंगे—

"रात्रिं-चर, रात्रि-चर" ये दो शब्द राक्षस वाचक हैं। यदि जनताका संरक्षण करने वाले राक्षस हैं, तो उनको आवश्यक ही होगा कि, जिस समय चोर डाकु लुटेरे तथा व्याघ्र सिंहादि हिंस्र पशुओंका उपद्रव अधिक होना संभव है, उस रात्रीके समय ही वे ग्रामोंमें भ्रमण करें। रात्रीमें अपने नियत स्थानमें भ्रमण करके अपने, मोहोल्ले, ग्राम, पत्तन आदिका रक्षण करना, रक्षा करने वालोंका अत्यावश्यक कार्य हुआ करता है। आजकल भी ग्राम रक्षक रात्रीके समय पहारा किया करते हैं, मेलों और यात्राओंमें "राष्ट्रीय स्वयं सेवक" रात्रीके समय पहारा करके जनताको सुरक्षित रखते हैं। तात्पर्य "रक्षक" अर्थ के "रात्रिचर, निशाचर" आदि शब्दोंमें कोई बुरा भाव नहीं है। "चर" शब्दके अर्थ "सेवक, दूत, गुप्त दूत, छिपके पता लगाने वाला सेवक, खबर देनेवाला, मुखबिर, जासूस" हैं। रात्रीके समय सेवा का काम तथा उक्त अर्थोंसे व्यक्त होनेवाला काम करनेवाले जो होंगे, उनका नाम भी "रात्रिचर, निशाचर" आदि होना संभव है।

यदि रात्रीके समयके संरक्षकोंका नाम "राक्षस" है, तो उनके हाथमें दंड, सोटी, लाठी आदि होना आवश्यक ही है। रात्रीके पहारेके लिये जो स्वयं-

सेवक हुआ करते हैं, उनके हाथमें लाठी अवश्यही होती है। ये स्वयंसेवक शस्त्रका उपयोग करनेवाले हों, या न हों; रात्रीके पहारेवाले लाठी लेकर ही पहारा करते हैं। सांप, बिच्छु, शेर, बबर, भेडिया, चोर, डाकू, लुटेरे इनको दंडसे ही वश किया जाता है। निःशस्त्र प्रतीकारका उपाय सभ्य सज्जनोंके साथ ही है। शेरके साथ निःशस्त्र प्रतीकार नहीं होता। इस लिये उक्त स्वयं सेवक हाथमें लाठी लेतेही थे। इसी कारण इनको "(कोण-प, कौण-प) लाठी रखनेवाले" कहा जाता था। "कोण, कौण" शब्दोंका अर्थ "लाठी, सोटी, (A stick, staff, club) छडी, लठ, सोंटा," होता है। लाठीको पास रखनेवाले, लाठीके साथ पहारा करनेवाले जो होते हैं वे "कोण-प" हैं।

"असुर" शब्दकी व्युत्पत्ति जो निरुक्तकार यास्काचार्यने दी है, वह भी यहां देखने योग्य है—

(१) असुरा अ॰सु-रताः स्थानेषु।

निरु. नै. ३।२।२

(२) असुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थान्,
अस्ताश्चास्यामर्थाः। असुरत्वमादिलुप्तं।

निरु. दै. १०।३।१०

टीका-ते हि न सुष्ठु रताः स्थानेषु, चपला इत्यर्थः।

"(१) जो अपने स्थानमें ही बैठता नहीं, परंतु इधर उधर जाकर देखता है, वह फूर्तिला "अ-सु-र" कहलाता है। (२) किंवा प्रज्ञा बुद्धिका नाम "असु" है, क्यों कि बुद्धिसे ही सब अनर्थ दूर किये जा सकते हैं, किंवा उत्तम भाव इसीमें रहते हैं, ऐसे विशाल बुद्धिसे जो युक्त होते हैं, उनको "असु-र" कहते हैं। अथवा "वसु-र" शब्दसे "असुर" बना है क्यों कि वह सबका निवासक होता है।"

जो चपल फूर्तिला है अर्थात् आलस्यसे अपनी चारपाई पर ही जो बैठा नहीं रहता, वह तेजस्वी और ओजस्वी वीर असुर कहलाता है, वह चारों ओर भ्रमण करके उत्साहके साथ कार्य करता है, और सदा सावध तथा दक्ष रहता है। किंवा बुद्धिवानको भी असुर कहते हैं, बुद्धिसे और विचा-

रसे जो विविध कर्म करता है और पुरुषार्थसे अनर्थोंको दूर करता है। अथवा जो "वसु-र" अर्थात् सबका निवास उत्तम रीतिसे करनेके लिये जो प्रयत्न करता है, उसको भी असुर कहते हैं।

ये निरुक्तकारके अर्थ भी पूर्वोक्त स्वयंसेवकोंके विषयमें ही ठीक सजते हैं। वे जनताका संरक्षण करनेके कार्यके लिये उत्साह और स्फूर्तिके साथ चारों ओर भ्रमण करते हैं, बुद्धिमत्ताके साथ दुष्टोंको दूर करके सज्जनोंका निवास उत्तम रीतिसे करनेके लिये अपनी आहुति देते हैं। तात्पर्य मूल यौगिक अर्थकी दृष्टिसे राक्षस वाचक शब्दोंका भाव बुरा नहीं था। विद्याकी दृष्टिसे भी असुरोंकी विद्या, कला, शिल्प, आदिमें प्रसिद्धि दिखाई देती है। देखिये शतपथमें—

(१) कुबेरो वैश्रवणो राजेत्याह तस्य रक्षांसि विशः।
तानुपदिशति देवजनविद्यावेदः ॥ १० ॥

(२) असितो धान्वो राजेत्याह तस्याऽसुरा विशः।
तानुपदिशति मायावेदः ॥ ११ ॥

श. ब्रा. १३।४।३

"(१) कुबेर राजा है, उसकी प्रजा राक्षस हैं, उनका वेद देव-जन-विद्या-वेद है। (२) असित राजा है उसकी असुर प्रजा है और उनका माया-वेद है।"

(१) देव विद्या, (२) जन विद्या, (३) माया विद्या ये तीन विद्यायें राक्षसोंके पास थीं। "माया विद्या" शब्दसे तात्पर्य कुशलताके कार्य करनेकी विद्या है। शिल्प, हुनर, कलाकौशल्य, इंद्र जाल विद्या, जादू आदि सब माया वेदमें आता है। मयासुरकी शिल्पविद्या महाभारतमें भी सुप्रसिद्ध है। आजकल सांप लेकर रास्तोंपर घूमनेवाले जो हाथ चालाखीके प्रयोग बताते हैं, वे प्रयोग मायावेदके हैं। तात्पर्य यह सब कुशलता है। अस्तु। इस प्रकार यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथोंमें असुरोंकी प्रशंसा नहीं है, तथापि जो उनकी विद्या वर्णन की है, वह गिरानेवाली नहीं है। इसी लिये यज्ञ प्रकरणमें आसुरी मायावेदके अनुसार कुछ विधि करना आवश्यक होता है, देखिये—

(१) सोयमिति देवजनविद्याया एकं पर्व व्याचक्षाण इवानुद्रवेदेवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति० ॥ १० ॥
(२) सोऽयमिति कांचिन्मायां कुर्यात्० ॥ ११ ॥

श. ब्रा. १३।४।३

(१) देवजन विद्याका एक भाग वह पढे..., (२) वह इस समय कुछ (माया) जादु करे।" तात्पर्य अश्वमेधमें इस प्रकार देवजन विद्या और मायावेदके कुछ प्रयोग करने आवश्यक होते हैं। इससे यह बात सिद्ध है कि इसमें वह हीनता नहीं, जैसी कि समझी जाती है। अस्तु। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथोंके सूचक वाक्योंसे भी पता लगता है, कि प्रारंभमें असुर राक्षसोंमें वह बुराई नहीं थी, जो पश्चात् दिखाई देती है। अब विचार करना है कि, ऐसा क्यों हुआ? जो असुर और राक्षस एक समयमें सहायक थे, वेही दूसरे समयमें बाधक क्यौं समझे गये? जगत्के प्रारंभमें जो जनताका संरक्षण करनेके लिये कटिबद्ध हुए थे, वेही जनताका घात करनेवाले आगे जाकर क्यौं हुए? "पूर्वदेव, पुण्यजन" आदि शब्द जो प्रारंभमें प्रशंसाके लिये बर्ते जाते थे, वेही शब्द घात पात करनेवाले दुष्ट दुर्जनोंके बोधक क्यौं समझे गये?

विचार करनेपर इसमें एक "बडी भारी सचाई" दिखाई देती है। इस लिये इसका शांतिके साथ ही विचार होना आवश्यक है। उक्त शब्दोंके जो विपरीत अर्थ आज प्रसिद्ध हैं, उसका कारण "मानवी स्वभाव" में है; जिसकी परीक्षा अब करनी है। इसका एक उदाहरण लेंगे, जिससे वक्तव्य बात अधिक स्पष्ट हो जायगी।

"राजा और राजपुरुष" अर्थात् राज्यके ओहदेदार राज्य पालनकी व्यवस्थाके लिये ही निर्माण किये गये। जनताका पालन मुख्य है, और राजा तथा राजपुरुषोंका सुख गौण है। राजा और राजपुरुष ये वास्तविक अवस्थामें प्रजाके नौकर हैं, और कार्य विशेषके लिये ही उनकी योजना हुई है। वेदमें अनेक स्थानपर स्पष्ट कहा है कि, प्रजाही राजाको निर्माण करती है। अयोग्य राजाको राजगद्दीसे अलग करती है, और उस स्थान पर दूसरे योग्यको स्थापन करती है। यह वास्तविक बात है, परंतु आज-कल राजे महाराजे और सम्राटोंकी ओर देखो, तथा ओहदेदारोंके व्यव-

हार देखो; इनके बर्तावसे ऐसा पता लगता है कि, प्रजा कुछ भी नहीं है, और जो कुछ है, सम्राट और उनके ओहदेदारही हैं!! कैसी विपरीत भावना है, देखिये! प्रजाका सुख बढानेके लिये राजाकी उत्पत्ति की गई, परंतु अब वही राजा प्रजाकोही खाने और दुःख देने लगा है!!! इसका जो परिणाम होना स्वाभाविक है, वही युरोपमें हो रहा है। प्रजाके क्रोधाग्निमें कई सम्राटोंकी आहुतियां दी गई, और कृतकर्मोका प्रायश्चित्त सम्राटोंकी अंत्येष्टिद्वारा किया गया!! इस इतिहासका विचार यहां करना नहीं है, परंतु यहां इतना ही बताना है कि, जो राजा प्रजारक्षणके लिये निर्माण किया गया था, वही कैसा प्रजाको दुःख देने लगा, तथा प्राथमिक अवस्थामें जिस राजाको "छोटा प्रभु" देवताका अवतार, और माननीय श्रेष्ठ पुरुष समझते थे; उसी राजाको अब "शिरच्छेदके योग्य" समझने लगे; न केवल समझने लगे, प्रत्युत बहुतसे प्रमुख देशोंकी जनताने अपने सम्राटोंको "निकम्मी दुःखदायक चीज" समझ कर ऐसी अवस्थामें फेंक दिया कि, वहांसे उनका फिर उठना अत्यंत असंभवनीय बात है।

"रक्षकोंके राक्षस" कैसे बनते हैं, इस बातका पता यहां लगता है। प्रारंभमें जो "स्वयं सेवक" जनताकी सेवा करनेके लिये ही केवल खडे हुए थे, वेही बहुत समय जानेके पश्चात् जनताका दुःख बढाने लगे, रात्रीके समय पहारा करते करते चोरी स्वयं करनी, स्त्रियोंके विषयमें अत्याचार स्वयं करना, शराब पी कर उन्मत्त होकर दुर्बलोंको क्लेश देने, इत्यादि बातें वेही स्वयंसेवक आगे जाकर करने लगे। इसी लिये जो पहिले रक्षक थे वेही भक्षक बने, पहिले जिनको "पुण्य-जन" कहा जाता था, वही उनका शब्द आगे जाकर निंदाका वाचक होगया, और इसी प्रकार राक्षस वाचक सब शब्द निंदा व्यंजक बने। तत्पश्चात् वे शराब पीने और मांसभोजन करने लगे, इस लिये आगे जाकर इस भावको बताने-वाले शब्द भी राक्षसोंके वाचक हो गये। तात्पर्य जो प्रथमतः अनत्याचारी थे, वेही पश्चात् घोर अत्याचार करने लगे; इसी लिये गिर गये। गिरनेके पश्चात् असुरों और राक्षसोंको दूर करनेके लिये नवयुवकोंको आगे होकर लडना पडा। येही देव हैं। इसी कारण राक्षसोंको "देवोंके बडे भाई" कहते हैं। देखिये—

द्वया ह प्राजापत्याः देवाश्चाऽसुराश्च, ततः
कानीयसा एव देवा, ज्यायसा असुरास्त एषु
लोकेष्वस्पर्धन्त ॥

श. ब्रा. १४।४।१।१

"देव और असुर ये प्रजापतिकेही दोनों संतान थे। उनमें असुर बडे भाई और देव छोटे भाई थे। इन दोनोंकी स्पर्धा इस लोकमें चली।"

पहिले उदाहरण लेकर बतायाही है कि, प्रजाका संरक्षण करनेके लिये राजा बनाया गया; इस लिये उसको प्रजापालनरूप अपना कर्तव्य करना चाहिये था; परंतु उसने प्रथम अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे किया, पश्चात् स्वार्थवश होकर प्रजाका दुःख बढाने लगा; तात्पर्य जो पहिले रक्षण किया करता था, वही पश्चात् भक्षण करने लगा। इस कारण पहिले वह रक्षक था, परंतु पश्चात् वही राक्षस हो गया। इसी लिये अब इसको हटाना आवश्यक हुआ। इस कार्यके लिये प्रजाजनोंमेंसे कई उत्साही सदाचारी शूरवीर खडे हुए, और उन्होंने अनेक वर्षोंके युद्धसे उस दुःखदाई राजाको हटाया और स्वसंमतिसे अपना नया अध्यक्ष चुना। इस प्रकार "राजसत्ता" नष्ट होकर उस स्थानपर "प्रजासत्ता" स्थापित होगई। इस समय प्रजाके नेता अपने आपको "देव" और पूर्व शासकोंको "राक्षस" कह सकते हैं। इस विचारसे "पूर्व-देवाः" इस शब्दका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आसकता है। यद्यपि प्रजाका अधिकार स्थापन होनेके समय पदच्युत राजा "राक्षस" समझने योग्य बन गया था, तथापि प्रारंभमें राजसंस्था भी देवत्वका कामही करती थी। तथा इस समय जो प्रजा शासन देवत्वके समान समझा जाता है वह भी, जिस समय गिरेगा; उस समय राक्षसरूपही समझा जायगा। उस अवस्थामें फिर राजसत्ता आवेगी अथवा कुछ नई शासक संस्था बनेगी। तात्पर्य यह कि मनुष्य समाजमें कोई एक संस्था शुद्धरूपमें चिरकाल तक रह नहीं सकती। मानवी संस्थासे प्रारंभमें कुछ कार्य अच्छा होता है, उस समय उनमें देवत्व होता है; परंतु कुछ समय व्यतीत हो जानेके पश्चात् वह संस्था गिर जाती है; उस गिरावटके समय विपरीत भावही उस संस्थामें आजाते हैं; इस लिये कहते हैं कि, उसमें राक्षसभाव आजाता है।

इतिहास देखनेपर ऐसा पता लगता है कि, इसी प्रकार मानवी संस्थायें गिरतीं हैं, और उनके स्थानपर नवीन संस्थायें योग्य कार्य करनेके लिये आजातीं हैं। पहिली संस्था प्रारंभमें दैवी भावनाओंसे युक्त होती है। परंतु पश्चात् उसीमें राक्षसी भावनाओंका प्राधान्य हो जाता है, इस लिये उसको तोडनेके लिये दूसरी नवीन संस्था खडी होती है; उसमें उस समय दैवी भावनाओंकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार जब यह नवीन संस्था भी राक्षसी भावनाओंसे युक्त होगी, तब तीसरी एक दैवी भावनाओंकी संस्था खडी होगी, और वह पूर्व संस्थाको हटा देगी। यह चक्र सनातन कालसे ऐसाही चल रहा है। और आगे भी चलताही रहेगा। देवासुरोंका यही युद्ध है।

यहां कोई यह न समझे कि, राजकीय संस्थायेंही इस प्रकार गिर जातीं हैं, सभी संस्थाओंकी यही अवस्था है। सामाजिक सुधार करनेवाले महा-पुरुष पूर्व संस्थाओंको तोडकर फेंकनेके लिये इसी हेतुसे प्रवृत्त हुए। सामा-जिक संस्थाओंका इतिहास देखा जाय, तो गिरावटका उक्त इतिहास ही उसमें मिलता है। पूर्वसंस्थाओंमें घृणित राक्षसी भावकी उत्पत्ति होनी और समाज सुधारकों द्वारा दैवी भावनाओंकी जागृति करनेसे नवीन संस्थाका अस्तित्व होना, सब देशके सामाजिक इतिहासमें दिखाई देगा।

धार्मिक संस्थाओंकी भी यही अवस्था है। अहिंसाप्रचारक बुद्धधर्मके लोकोंमें सबसे अधिक हिंसक लोग हैं, प्रेमभाव और लीनताका प्रचार करनेवाले ईसाईधर्मके लोगोंमें सबसे अधिक पारस्परिक वैर और क्रूरता है, वैदिक धर्मका अभिमान धारण करनेवालोंमें वेदके विषयमें अंतिम सीमाका अज्ञान है, इसीप्रकार अन्य धर्मों और पंथोंमें हुआ है, हो रहा है और आगे भी होगा। इसीका निराकरण करनेके लिये धर्मसंस्थापकोंके प्रयत्न होते रहते हैं। धर्मसंस्थापक आनेपर भी योग्य रीतिसे अनुयायी न मिले और घमंडी अज्ञानी ढोंगी स्वार्थी निरक्षर महंतोंके आधीन मठ चले गये; तो फिर वही आसुरी भाव प्रचलित होता है, और दूसरे धर्म-संस्थापककी प्रतीक्षा करनी पडती है।

व्यक्तिमें भी देखिये आपको उक्त सत्यही दिखाई देगा। जब बालक जन्मता है, उस समय उसके सब इंद्रिय दैवी भावनाओंसे परिपूर्ण होते

हैं, वह प्रेमकी दृष्टिसे सर्वत्र देखता है, आनंदसे फूलकी तरह प्रेमपूर्ण विकसित होकर हंसता है, न वह किसीके साथ द्वेष करता है और न किसी विषयमें बद्ध होता है । ये इंद्रिय इस अवस्थामें "देव" कहलाते हैं, परंतु जब तारुण्यकी अवस्था आती है, तब वेही इंद्रिय उसको स्वार्थी बनाकर गिरानेमें प्रवृत्त हो जाते हैं । बचपनमें जो उसकी प्रेममयी दृष्टि थी, वही अब स्वार्थपूर्ण दृष्टि बनती है, और वह परस्त्रीकी ओर कुत्सित भावसे देख कर गिरने लगता है । इस आयुमें उसके कान चुगलियां सुनने लगते हैं, मन बुरे ख्यालोंमें फंसता है, मुख मीठे और चटपटे पदार्थोंके पीछे दौडता है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां उस जवानको पकडकर अपना गुलाम बनातीं हैं और गिरातीं हैं । तात्पर्य जिन इंद्रियोंमें बालपनमें दैवी शुद्ध भाव था, उन्हीं इंद्रियोंमें युवा अवस्थामें राक्षसी स्वार्थी भाव आता है । इस प्रकार "पूर्वदेवों" के राक्षस बन जाते हैं । इस अवस्थामें योगादि साधनों और शमदमादिद्वारा इन राक्षसी इंद्रियोंका पराभव करना और आत्माकी शक्तियोंका विजय करना होता है । हृदयके कुरुक्षेत्रपर हरएक शरीरमें यह युद्ध होता ही है । जब आत्माका विजय होगा, तब वैयक्तिक मुक्ति होती है, तबतक बंध और दुःख अवश्य रहताही है ।

इस प्रकार "रक्षकोंके राक्षस" बन जाते हैं । यद्यपि ऐसा बनना आवश्यक नहीं है तथापि मानवी स्वभावके अनुसार "रक्षकोंके राक्षस" बन जाने स्वाभाविक है । यह स्थित्यंतर होनेके लिये बडा काल लग जाता है, और यह रूपांतर अत्यंत सूक्ष्म प्रमाणसे होता रहता है । इस लिये थोडे समयमें किसीके ध्यानमें भी नहीं आता, तथा बहुत समय व्यतीत होनेपर भी "रक्षकोंके जो राक्षस बने हैं" उनको अपने राक्षस बननेकी कोई कल्पना नहीं होती; वे स्वयं अपने आपको देव और रक्षकही समझते हैं ! ! इतनाही नहीं प्रत्युत उन राक्षसोंको हटानेके लिये जो दैवी शक्ति प्रादुर्भूत होती है, उसीको घातक मानकर हटानेके लिये सिद्ध होते हैं । परंतु राक्षसोंका नाश निश्चयसेही होना है, इस लिये दबानेसेही वह दैवी शक्ति बढ जाती है और अंतमें "पूर्व-देवों" का नामही शेष रह जाता है ।

वेदमें "असुर" शब्द उत्तम रक्षक अर्थमें भी आता है और असुरों तथा "राक्षसों" का घातक भाव भी है । वेदके एकही शब्दमें जो ऐसा विभिन्न और परस्परविरोधी भाव है, उसका "वैदिक तत्वज्ञान" सारांशरूपसे इस लेखमें बताया है । इससे पाठक बहुतही बोध ले सकते हैं । "वैदिक धर्म" का प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिरूपसे तथा समाजरूपसे अपने आपकी परीक्षा करके निश्चय करे कि वह स्वयं "रक्षक" है या "राक्षस" बन चुका है अथवा बननेके मार्गमें है। यदि राक्षस बननेकी गति प्रारंभ हो गई है, तो उससे अपना बचाव करना आवश्यक है ।

वैयक्तिक दृष्टिसे अपने शरीरमें ही अपने बाह्य और आंतरिक इंद्रियों और मानसिक प्रवृत्तियोंका परीक्षण करें कि उनमें दैवी भाव उत्पन्न हो रहा है या नहीं हुआ है । प्रत्येक इंद्रिय शुद्ध दैवी भावसेही युक्त रहना चाहिये, प्रयत्न करके अपनी प्रत्येक भावना दैवी भावसे परिपूर्ण करनी चाहिए; यही धर्मका उद्देश्य है और यही हरएकके कल्याणका हेतु है। यदि किसी स्थानपर काया, वाचा अथवा मनमें थोडा भी राक्षसी भाव होगा, तो उसको दूर कीजिये । इस प्रकार सावधानीसे अपना बचाव कीजिये ।

तथा आपको समष्टि दृष्टिसे भी अपने व्यवहारका विचार करना आवश्यक है । आप समष्टिसे अलग नहीं रह सकते । कुटुंब परिवार, जाति, धर्म, समाज, राष्ट्र आदिके कारण आपको समष्टि विषयक कर्तव्य न्यूनाधिक प्रमाणसे करना आवश्यकही है । उस कर्तव्यके करनेके समय उस कर्तव्यको करनेकी रीतिसे निश्चय हो सकता है कि, आप समष्टि दृष्टिसे "रक्षक" हैं वा "राक्षस" बने हैं । कृपया इस दृष्टिसे भी अपनी परीक्षा कीजिये। यदि आप धर्मसभाके सदस्य हैं, सत्संगके प्रेमी हैं, समाजके सभासद हैं, राष्ट्रीय संघटनके अवयव बने हैं, अथवा किसी सार्वजनिक संघके सभ्य हैं, तो उस समूहके उद्देश्यसे विरुद्ध कोई कार्य करना आपको योग्य नहीं है। आपका मत विरुद्ध है, तो आप अलग होकर कार्य कीजिये, परंतु अंदर रहकर अपने आपको "रक्षक" बताते हुए, "राक्षस" बनकर विघातका कार्य न कीजिये ।

इस रीतिसे वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टिसे यदि अपने आचरण हरएक देखता रहेगा, तो बहुत संभव है कि राक्षसी भाव उतना शीघ्र अंदर नहीं घुसेगा ।

वैदिक धर्मके अभिमानियोंमें ऐसा कोई न हो कि, जो "वैदिक धर्म" का बहुतही बडा आडंबर रचता है, परंतु अंदर देखा जाय तो "वेद" का एक भी अक्षर स्वयं जानता नहीं और जाननेका प्रयत्न करनेके लिये भी उत्सुक नहीं है । विचार कीजिये कि ऐसे मनुष्य "रक्षक" हैं या "राक्षस" हैं, ऐसा मनुष्य यदि आपके पास कोई हो, तो उसका द्वेष न कीजिये, परंतु शांतिके समय उसके पास जाइये और शांतिके शब्दोंसे उसको समझाइये। यदि आप उनके अंदर "दिव्य भावकी ज्योति" जगा सकेंगे तो अच्छा है, नहीं तो आप अपना कर्तव्य पालन करते जाईये, इतनाही पर्याप्त है । इसी प्रकार जहां जहां आपका संबंध आता है, वहां वहां दैवी भावको उत्तेजित करके असुरी भावको दूर करनेका यत्न कीजिये ।

इस लेखमें तत्वज्ञानकी वैदिक दृष्टिसे "रक्षकोंके राक्षस" कैसे बनते हैं, इस एक बातका विचार करके बताया है कि, इस आपत्तिसे बचनेका उपाय क्या है । असुरों और राक्षसोंके विषयमें जो अन्य बातें वेदादि ग्रंथोंमें हैं, उनका विचार किसी अन्य लेखमें करेंगे ।

विषय सूची।

Scanned with CamScanner

स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित

वैदिक धर्म के ग्रंथ।

[१] धर्म–शिक्षाके ग्रंथ।

बालक और बालिकाओंकी पाठशालाओंमें **"धर्म–शिक्षा"** की पढाईके लिये तथा घरोंमें बालबच्चोंकी धार्मिक पढाईके लिये ये ग्रंथ विशेष रीतिसे तैयार किये हैं। धर्मशिक्षाके कई पाठ्य पुस्तक इस समय प्रचलित हैं; परंतु **"वैदिक–धर्म–शिक्षा"** के नामसे उन पुस्तकोंमें अपने मनकी बातें ही लिखीं हैं, इस कारण उक्त पुस्तकोंसे बालकोंके मन के ऊपर **वैदिक–धर्म** का शुभ संस्कार नहीं होता है। वास्तविक रीतिसे देखा जाय, तो बालक बालिकाओंके लिये ऐसे धर्म पुस्तक चाहिये कि जिनमें वेद मंत्रों और उपनिषद्के मंत्रोंसे चुने हुवे वाक्य संगृहीत किये गये हों, साथ साथ उनका अर्थ और कुछ विवरण दिया हो, और अपने मनकी बातें उनमें कुछ भी न हों। क्यों कि **पढनेके समय बालकोंके मनमें यही भाव रहना चाहिये कि, हम वेदमंत्र पढरहे हैं;** यह भाव ऐसे ही पुस्तकोंसे होगा कि जिनमें मंत्रोंके सिवाय अन्य बातें न लिखीं होंगी। हमारे **"धर्म–शिक्षाके ग्रंथ"** इसी प्रकार लिखे गये हैं, इनमें मंत्रोंके सिवाय और कोई मनकी बात नहीं है। इसी लिये ये पुस्तकें इतनी लोकप्रिय हुई हैं कि, इस समयतक प्रथम भाग की १५०००, द्वितीय भागकी ५०००, और तृतीय भागकी ५०००, पुस्तकें लग चुकी हैं, और प्रतिदिन मांग बढ रही है। गुजराती, कनडी आदि भाषाओंमें भी भाषांतर होगये हैं। इसलिये इन पुस्तकों से ही सर्वत्र धर्मशिक्षाकी पढाई होना योग्य है—

(१) बालकोंकी धर्म–शिक्षा। प्रथम भाग। प्रथम श्रेणीकी धर्म-शिक्षा के लिये। मू. -) एक आना।

(२) बालकोंकी धर्म–शिक्षा। द्वितीय भाग। द्वितीय श्रेणीकी धर्म-शिक्षा के लिये। मू. =) दो आने।

(३) वैदिक–पाठ–माला। प्रथम पुस्तक। तृतीय श्रेणीकी धर्म-शिक्षाके लिये। मू. ≡) तीन आने।

अन्य श्रेणियोंके लिये पुस्तक तैयार हो रहे हैं।

[२] स्वयं-शिक्षक-माला।

गुरुके पास १०, १२ वर्ष अध्ययन करनेसे निःसंदेह बडा लाभ होता है, परंतु आज कलके जीवन कलह के कारण हरएक मनुष्यके पास इतना समय नहीं है, इसलिये अन्य कार्य करते हुए, अपनी फुरसत के समय वेदाध्ययन करनेकी सुविधा होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इस समयतक ऐसी कोई पुस्तक बनी नहीं है कि, जिसको स्वयं पढनेसे वेदके अंदर पाठकोंकी गति हो सके। इस न्यूनता की पूर्ती करनेके लिये **"स्वयं-शिक्षक-माला"** की रचना कीगई है। इन पुस्तकोंका अभ्यास पाठक अपनी फुरसतके समय थोडा थोडा, दिनमें घंटा आधा घंटा, कर सकते हैं, और इस प्रकार थोडा थोडा अभ्यास करनेसेही पाठकोंकी गति वेदमें हो सकती है। इन पुस्तकोंमें ऐसी क्रमशः पढाई रखी है कि, जो पढाई पाठक स्वयं कर सकते हैं, और वेदविद्याके अंदर प्रवेश होनेके लिये दूसरे किसीकी आवश्यकता नहीं है। **"व्याकरण और निरुक्त"** का विषय इतनी सुगम रीतिसे दिया है कि इनमें विना आयास पाठकोंका प्रवेश स्वयंही हो जाता है। इन पुस्तकोंकी सुगम रीतिका उनको स्वयं अनुभव है कि, जो स्वयं इस प्रणालीके अनुसार पढरहे हैं।

(१) **वेदका स्वयं-शिक्षक।** प्रथम भाग। मू. १॥) डेढ रु.।
(२) **वेदका स्वयं-शिक्षक।** द्वितीय भाग। मू.१॥) डेढ रु.।

---

[३] आगम-निबंध-माला।

वेद अनंत विद्याओंका समुद्र है। इस वेद समुद्रका मंथन करनेसे अनेक **"ज्ञान-रत्न"** प्राप्त होते हैं, उन रत्नोंकी यह माला है। इस मालाके रत्नोंका तेज एकवार अवश्य देखिये। आपको वेद-विद्याओंका स्वरूप यदि थोडे परिश्रमसे और अल्प मूल्यसेही देखनेकी इच्छा है, तो आप इस मालाके ग्रंथ अवश्य पढिये।

(१) **वैदिक-राज्य-पद्धति।** मू. ।-) पांच आने।
(२) **मानवी आयुष्य।** मू. ।) चार आने।

(३) **वैदिक सभ्यता** । मू. ।।।) बारह आने ।
(४) **वैदिक चिकित्सा-शास्त्र** । मू. ।) चार आने ।
(५) **वैदिक स्वराज्यकी महिमा** । मू. ॥) आठ आने ।
(६) **वैदिक सर्पविद्या** । मू. ॥) आठ आने ।
(७) **मृत्युको दूर करनेका उपाय** । मू. ॥) आठ आने ।
(८) **वेदमें चर्खा** । मू. ॥) आठ आने ।
(९) **शिवसंकल्पका विजय** । मू. ।।।) बारह आने ।
(१०) **वैदिक धर्मकी विशेषता** । मू. ॥) आठ आने ।
(११) **तर्कसे वेदका अर्थ** । मू. ॥) आठ आने ।
(१२) **वेदमें रोग जंतु शास्त्र** । मू. ॥) आठ आने ।
(१३) **ब्रह्मचर्यका एक विघ्न और ग्राहकोंका कर्तव्य** । मू. =) दो आ.

इस मालाके अनेक निबंध लिखकर तैयार हैं, उनका क्रमशः मुद्रण हो रहा है ।

---

[४] योग-साधन-माला ।

"योग-साधन" का अनुष्ठान करनेसे शारीरिक आरोग्य, इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मानसिक शक्तिका उत्कर्ष; बुद्धिका विकास और आत्मिक बलकी प्राप्ति होना संभव है । इसलिये यह **"योग-साधन"** हरएक मनुष्यको करने योग्य है । परंतु मध्यसमयमें इस साधनकी अत्यंत गुप्तता रखी गई थी, इसलिये योगसाधनकी सुगम प्रक्रियाओंके विषयमें भी जनतामें बडा भारी अज्ञान फैला है । जनता के स्वास्थ्य की दृष्टिसे इस **"योग-साधन"** को ऋषि मुनियोंने अत्यावश्यक समझ कर गुरुकुलके विद्यार्थियोंके लिये आवश्यक रखा था और गृहस्थियोंके दैनिक धर्मविधिमें संमिलित किया था । इस योग-साधन प्रक्रियाओंके सार्वत्रिक होनेसे हीं सबको स्वास्थ्य प्राप्त होना संभव है । इसलिये योगसाधनकी सुगम प्रक्रियाओंको अलग करके, उनका स्वयं अभ्यास कर और दूसरोंपर अनुभव देखकर, इस ग्रंथमाला के ग्रंथ लिखे जाते हैं । इसलिये जो कोई मनुष्य इन पुस्तकों में लिखित विधिके अनुसार योगसाधन करेगा, उसको अवश्य लाभ होगा, क्यों कि अनुभव की बातें ही इसमें लिखी हैं ।

(१) **संध्योपासना।** योग की दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तकमें लिखी है। इसके अनुसार सहस्रों मनुष्य संध्या कर रहे हैं, और आनंद प्राप्त कर रहे हैं। छः महिनोंके अभ्याससे ब्रह्मचर्य सुरक्षित होने, चित्तकी एकाग्रता होने और छातीका घेर बढनेका अनुभव सार्वत्रिक है। इस प्रकार संध्या करनेसे ७० वर्षके वृद्ध मनुष्यभी लाभ प्राप्त कर रहे हैं, फिर नवयुवकोंको तो अवश्यही लाभ होगा। मू० १॥) डेढ रु.।

(२) **संध्याका अनुष्ठान।** योग साधनसे संध्या करनेकी रीति इस पुस्तकमें लिखी है। (यह पुस्तक पूर्वोक्त "**संध्योपासना**" में संमिलित है, इस लिये "**संध्योपासना**" लेनेवालोंको इसके लेनेकी आवश्यकता नहीं है) मू० ॥) आठ आने।

(३) **वैदिक—प्राण—विद्या।** प्राणायाम करनेके समय जिस प्रकार "**मनकी भावना**" रखनी चाहिये, उसका वर्णन इस पुस्तकमें है। "**अथर्ववेदीय प्राणसूक्त**" का स्पष्टीकरण तथा वेदोंके अन्य सूक्तों और उपनिषद्वचनों में जो प्राणविद्या है वह सब इस पुस्तकमें संगृहित है। प्राणायाम करनेके पूर्व इस पुस्तकका उत्तम अभ्यास करना आवश्यक है। मू. १) एक रु.।

(४) **ब्रह्मचर्य।** इस पुस्तकमें "**अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य सूक्त**" का विवरण है। **ब्रह्मचर्य साधनके योगासन तथा वीर्य रक्षणके अनुभव सिद्ध उपाय** इस पुस्तकमें दिये हैं। यह पुस्तक "**सचित्र**" है। इसमें लिखे नियमोंके अनुसार आचरण करनेसे थोडेही दिनोंमें वीर्य स्थिर होनेका अनुभव निःसंदेह आता है। मू० १।) सवा रु.।

(५) **योगसाधनकी तैयारी।** जो सज्जन योगाभ्याससे अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उनको अपनी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये, इस विषयकी सब बातें इस पुस्तकमें लिखीं हैं। मू. १) एक रु.।

(६) **आसन।** इसमें उपयोगी आसनोंका वर्णन चित्रोंके समेत दिया है। मू. २) दो रु.।

"**योगसाधन**" के अन्य पुस्तक छप रहे हैं। मुद्रित होतेही सूचना दी जायगी।

[५] यजुर्वेद का स्वाध्याय।

मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसाही बनता है। पुरुषार्थके आधीन मनुष्यकी उन्नति है। इसलिये हरएक मनुष्यको "**पुरुषार्थ-साधन**" करना अत्यंत आवश्यक है। "**यजुर्वेद**" ही कर्मवेद किंवा पुरुषार्थवेद है, इसलिये यजुर्वेदका अध्ययन पुरुषार्थियोंके लिये आवश्यक है। एक एक अध्यायका एक एक पुस्तक इस मालामें प्रसिद्ध होता है, इस समयतक निम्न ग्रंथ छप चुके हैं—

(१) यजुर्वेद अ. ३० की व्याख्या। "**नर-मेध**" **मनुष्योंकी उन्नतिका सच्चा साधन**। वैदिक नरमेध कितना उपयोगी है, इस विषयका ज्ञान इस पुस्तकके पढनेसे हो सकता है। नरमेध विषयक भयंकर कल्पनाओंका सप्रमाण खंडन करके वैदिक नरमेधकी उपयुक्तता इस पुस्तकमें बतायी है। मू० १) एक रुपया।

(२) यजुर्वेद अ. ३२ की व्याख्या। "**सर्व-मेध**"। **एक ईश्वर की उपासना**। य. अ. ३२ में एक ईश्वर की स्पष्ट कल्पना बताई है। जो कहते हैं कि एकेश्वर कल्पना वेदमें नहीं है, उनको इस अध्यायने अच्छा उत्तर दिया है। मू. ॥) आठ आने।

(३) यजुर्वेद अ. ३६ की व्याख्या। "**शांति-करण**"। **सच्ची शांति का सच्चा उपाय**। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में सच्ची शांति कैसी स्थापन की जा सकती है, इसके वैदिक उपाय इस पुस्तक में देखिये। मू. ॥) आठ आने।

---

[६] उपनिषद् ग्रंथ-माला।

तत्वज्ञान के भंडारमें "**उपनिषद् ग्रंथ**" अमूल्य ग्रंथ हैं। तत्वज्ञानकी अंतिम सीमा इन ग्रंथोंमें पाठक अनुभव कर सकते हैं। **जीवनके समय ये ग्रंथ उच्च तत्वज्ञान के द्वारा सदाचार की शिक्षा देतें है, और मृत्युके समय अमृतमयी शांति प्रदान करते हैं**। हरएक मनुष्यके लिये इस ग्रंथका पठन, मनन, और अधिक विचार करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

(१) "**ईश**" **उपनिषद्**। इस पुस्तकमें ईश उपनिषद्की व्याख्या है। इसकी विशेषता यह है कि, उपनिषदके संपूर्ण कठिन शब्दोंका सप्रमाण अर्थ बताकर वैदिक तत्वज्ञान की सार्वभौमिकता बताई है। मू. ॥।=) चौदह आने।

(२) **"केन" उपनिषद्।** इस पुस्तकमें **केन उपनिषद्** का अर्थ और स्पष्टीकरण, **अथर्ववेदीय केन सूक्त** की व्याख्या और देवीभागवतकी कथाकी संगति बतादी है। उमा यक्ष आदि शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करके बताया है कि, उनका स्थान आध्यात्मिक भूमिकामें कहां है और उनकी प्राप्तिका उपाय क्या है। मू० १।) सवा रु.।

[७] देवता-परिचय-ग्रंथ-माला।

"वैदिक देवता" ओंका सूक्ष्मज्ञान होनेके विना वेदका मनन होना असंभव है, इसलिये इस ग्रंथमालामें **"देवताओंका परिचय"** करानेका यत्न किया है। पुस्तकोंके नामोंसेही पुस्तकोंके विषयका बोध हो सकता है—

(१) **रुद्र देवताका परिचय।** मू० ॥) आठ आने।
(२) **ऋग्वेदमें रुद्र देवता।** मू० ॥=) दस आने।
(३) **३३ देवताओंका विचार।** मू० =) दो आने।
(४) **देवताविचार।** मू० ≡) तीन आने।

"अग्नि" आदि देवताओंका विचार और परिचय करानेवाले ग्रंथ तैयार हुए हैं, शीघ्रही मुद्रित होंगे।

---

[८] ब्राह्मण-बोध-माला।

वेदके गूढ तत्वोंका आविष्कार ब्राह्मण ग्रंथोंमें किया गया है। परंतु ब्राह्मण ग्रंथोंकी भाषा अत्यंत कठिन और उनकी शैली अति गूढ होनेके कारण हरएकका प्रवेश उन ग्रंथोंमें नहीं हो सकता; इसलिये ब्राह्मणग्रंथोंके बोधवचन एकत्रित करनेका यत्न इस मालामें हो रहा है। आशा है कि इस लेखमाला द्वारा ब्राह्मणोंके मुख्य विषयकी कल्पना पाठकोंके मनमें आ जायगी।

(१) **शत-पथ-बोधामृत।** मू. ।) चार आने।

मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा).

स्वाध्याय मंडलके पुस्तक।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या । **नरमेध** । **"मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।"** मूल्य १) एक रु.।

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या । **सर्वमेध** । **"एक ईश्वरकी उपासना।"** मू. ॥) आठ आने ।

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या । **शांतिकरण** । **"सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।"** मू. ॥) आठ आने ।

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ-माला ।

(१) रुद्र देवताका परिचय । मू. ॥) आठ आने ।

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता । मू. ॥=) दस ,, ।

(३) ३३ देवताओंका विचार । मू. =) दो ,, ।

(४) देवता विचार । मू. ≡) तीन ,, ।

[३] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा । प्रथमभाग । मू. -) एक आना ।

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा । द्वितीयभाग । मू. =) दो आने ।

(३) वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक । मू. ≡) तीन आने ।

[४] योग-साधन-माला ।

(१) संध्योपासना । मू. १॥) डेढ रु. । द्वितीयवार मुद्रित ।

(२) संध्याका अनुष्ठान । मू. ॥) आठ आने ।

(३) वैदिक-प्राणविद्या । मू. १) एक रु. ।

(४) ब्रह्मचर्य । मू. १।) सवा रु. ।

(५) योगसाधनकी तैयारी । मू. १) एक रु. ।

(६) आसन । मू. २) दो रु. ।

[५] स्वयं-शिक्षक-माला।

(१) वेदका स्वयंशिक्षक। प्रथमभाग। मू. १॥) डेढ रु.।
(२) वेदका स्वयंशिक्षक। द्वितीय भाग। मू. १॥) डेढ रु.।

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिकराज्यपद्धति। मू. ।-) पांच आने।
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।) चार ,, ।
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ।॥) बारह ,, ।
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।) चार ,, ।
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥) आठ ,, ।
(६) वैदिक सर्पविद्या। मू. ॥) आठ ,, ।
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥) आठ ,, ।
(८) वेदमें चरखा। मू. ॥) आठ ,, ।
(९) शिवसंकल्पका विजय। मू. ।॥) बारह ,, ।
(१०) वैदिकधर्मकी विशेषता। मू. ॥। आठ
(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. =
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =

[७] ब्राह्मण-बोध-माला

(१) शत-पथ-बोधामृत। मू० ।)

[८] उपनिषद्-ग्रंथ-माला

(१) "ईश" उपनिषद्। मू. ॥=)
(२) "केन" उपनिषद्। मू. १।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि